रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भारतीय साहित्य के निर्माता

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

शिशिर कुमार घोष

हिन्दी अनुवाद
अनामिका

साहित्य अकादेमी

Rabindranath Thakur : Hindi translation by Anamika of Sisir Kumar Ghosh's monograph on Rabindranath Tagore in English. Sahitya Akademi, New Delhi (2002) Rs. 25.

प्रथम संस्करण : 1996
पुनर्मुद्रण : 1997
पुनर्मुद्रण : 2002

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053

सीआईटी कैम्पस, टी.टी.टी.आई. पोस्ट, तरामणि, चेन्नई 600113

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर मार्ग, बंगलौर 560 001

ISBN 81-260-0232-8

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

अनुक्रम

भूमिका

यह कृति रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861–1941) के जीवन और उनकी रचनाओं का एक संक्षिप्त लेखा-जोखा है। जितना मैं समाहित कर सका हूँ, उससे ज़्यादा मुझे छोड़ देना पड़ा है। यह कार्य इतना वृहत् और विपुल था कि कुछेक पृष्ठों में इसे समेट पाता सम्भव न हो पाया और इसे समायोजित करने में मुझे अपनी ही नीतियाँ, अपना ही विधिशास्त्र गढ़ना पड़ा। धूल और रेत से भरी विवरणिकाओं और घटना-क्रमों से अलग मेरा लेखा-जोखा पूर्णतः मेरे अपने चयन पर आधारित है। यह ठीक है कि मुख्यतः वे लेखक थे, पर उसके अलावा भी बहुत कुछ थे – एक जीवन्त उपस्थिति, अनेक अर्थों में अब तक जीवित। हाल-फ़िलहाल शायद ही किसी ने उनके जीवन के अधिकाधिक पक्षों को समेटने का प्रयास किया है। कवि और उसकी कृतियों का अवसर एक अजब-सा घोल–मट्ठा तैयार कर दिया जाता है। शुद्ध साहित्यिक दृष्टि शायद उनके साथ पूरा न्याय न कर पाए। दो राष्ट्रों के राष्ट्रगीतों का रचयिता होना अपने आप में एक अनुपम और विलक्षण बात है। वे सिर्फ़ साहित्यिक उपस्थिति ही नहीं, एक संस्कृतिनायक भी थे।

साहित्य, धर्म, सौन्दर्यशास्त्र, शिक्षा, ग्रामोद्धार, राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता, अंतर्जातीय सम्बन्ध-शृंखला पर इनके गम्भीर चिन्तनों के विस्तार और प्रभावों की इस तरह के सर्वमुखी सर्वेक्षण में उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे पूर्ण मानव कहे जाते हैं, फ़ैशनपरस्त नमूनों से अधिक पूर्ण तो निश्चय ही। ऐसा व्यक्ति विरला ही होता है। व्यक्ति से कवि को विच्छिन्न करना आसान नहीं। दोनों की तुलना के भी अपने ख़तरे हैं। रवीन्द्रनाथ का आदर्श आलोचक–जो उनका सुस्थिर मूल्यांकन कर सके और उनपर पूर्ण दृष्टिपात भी, अभी अवतरित होना है।

मैंने सिर्फ वे ही पहलू चुने हैं जो आधुनिक पाठक के लिए रोचक और प्रासंगिक हों। प्राप्त छवि अविश्वसनीय है और हममें कुछ ही सम्पूर्ण साहित्य या (क्षीण) अनुवादों तक भी पहुँच पाएँगें। इस पुस्तक का ध्येय, प्रस्तुतीकरण और औत्सुक्य-सृजन–दोनों हैं। परम्परापोषक संदेह-भाजक होगा। भक्तों और निन्दकों ने रवीन्द्रनाथ की जो छवि उजागर की है– रवीन्द्रनाथ उससे बहुत भिन्न हैं। एक

नहीं, उन्हीं के शब्दों में, रवीन्द्रनाथ अनेक हैं। उन्हें उनकी पूर्णता में न परखना वैयक्तिक और सामूहिक हानि होगी। अकेलेपन के आवरण के बावजूद वे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति थे। जीवन के उत्तरार्द्ध में उन्होंने कहा –"मैं आपमें से ही एक हूँ।" आइए, हम उनको उनके इसी निकष पर कसें और मूल्यशोधन की दिशा में उनके साथ-साथ चलें–मूल्यशोधन और उन तत्त्वों की दिशा में जो सम्मति का निर्माण करते हैं। उन्हें एक पीठिका पर प्रतिष्ठित करना ही पर्याप्त नहीं हैं। उनका सर्जनात्मक दाय साम्राज्यों, राजनीतिक हलचलों और लोकरुचि–सबसे अधिक दीर्घजीवी होगा। मानव की सौन्दर्यशास्त्रीय दीक्षा में हम उन्हें अनिवार्य पायेंगे। उनके कुछ एकल पद-विन्यास और अंतर्दृष्टियाँ अनन्त व्याख्याओं की मुखापेक्षी हैं। एक दार्शनिक से अधिक वे द्रष्टा हैं। कठिनाई सिर्फ़ यह है कि दूसरी भाषाओं के रवीन्द्र और बाङ्ला के रवीन्द्र एक नहीं हैं। कुछ बातें जो मैंने कही हैं, मूल से अधिक उनके अनुवादों पर लागू होती हैं।

यह विनिबन्ध रवीन्द्र-प्रवेशिका या रवीन्द्र-विपुल की कुंजी नहीं है। प्रतिनिधि कृतियों का यह सर्वेक्षण उनकी विस्मयकारी, चमत्कारी सर्जनात्मकता पर एक विहंगम दृष्टि मात्र है। इसमें उनके घटना–बहुल जीवन, उनकी कविता, उनके नाटकों, उपन्यासों और कहानियों के सर्वेक्षण के उपरान्त मानव-धर्म (शायद समूह से अधिक व्यक्ति-धर्म), कला और सौन्दर्य के बारे में उनकी मूल अवधारणाएँ, शिक्षा और पूर्णता सम्बन्धी उनके वायवीय आदर्श सँजोए गये हैं। अन्त में यह एक प्रकार की श्रद्धांजलि ही है, कोई पूर्ण दृष्टिपात नहीं। और अधिक अन्वेषण सम्भव है, और शायद पाठक ही यह कर लें।

साहित्य अकादेमी का मैं ऋणी हूँ कि उसने यह विनिबन्ध मुझसे लिखवाया और उपकुलपति, विश्वभारती का भी कि उन्होंने मेरे काम में लगातार रुचि ली। अच्छा होता यदि अकादेमी थोड़ा समय मुझे और देती। पाठकगण विवरणों के अभाव और काट-छाँट के लिए मुझे क्षमा करेंगे। यदि इसका दूसरा संस्करण हो सका तो मैं भूल-सुधार कर पाऊँगा और रवीन्द्रनाथ तथा शान्तिनिकेतन के प्रति श्रद्धा-निवेदन भी।

पुनर्मूल्यांकन का कार्य अधिक देर तक टाला नहीं जा सकता। आलोचना हम अवश्य करें, पर अभिवादन में झुककर।

–शिशिरकुमार घोष

शान्तिनिकेतन
5 अप्रैल, 1986

जीवन

'कवि को जीवनी में न ढूँढ़ो', रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861–1941) ने चेतावनी दी थी। कारयित्री प्रतिभा इतिहास का फलित है या नियामक ; वह उसके 'बावजूद' है या उसके 'चलते', उसके प्रतिकूल है या उससे नियंत्रित ? जहाँ तक रवीन्द्रनाथ का प्रश्न है, वे मानवीय गरिमा के क़द को छोटा करनेवाले इन सिद्धान्तों के विरुद्ध थे। और इसमें कोई मतभेद नहीं कि उनके जीवन और विकास की परिस्थितियाँ कई तरह से असाधारण थीं। इस असाधारण जीवन के टुकड़े अनुस्यूत कर पानेवाला सही परिदृश्य पाना आसान नहीं।

ठाकुर-परिवार सभ्रांत था, विशिष्ट, अलग-थलग नहीं तो कई तरह से अलग झलकनेवाला जरूर। रवीन्द्रनाथ के पितामह द्वारिकानाथ, जिन्होंने परिवार के आर्थिक गौरव की नींव रखी, 'राजकुमार' कहलाते थे और उनके मित्रों में राममोहन राय की ही नहीं, मलिका विक्टोरिया की भी गणना होती थी। उनके पिता, महर्षि देवेन्द्रनाथ कुलीनता और सम्पन्नता के कारण ही नहीं, अपनी आध्यात्मिक चेतना के कारण भी विशिष्ट थे (इसके साक्ष्य उनकी आत्मकथा में उपस्थित हैं)। कट्टरपंथी हिन्दू रीति-रिवाजों को तिलांजलि देकर उन्होंने ब्रह्मभ्रातृत्व से सम्बन्ध जोड़ा और शीघ्र ही ब्रह्म-समाज के नेता बन गये। रवीन्द्रनाथ–उनकी चौदहवीं सन्तान के रूप में–कलकत्ता के केन्द्रस्थ 'जोरासांको' नामक उस भव्य पैतृक निवास पर 7 मई, 1861 को जन्मे। इस बालक को माँ का संस्पर्श बहुत ही कम मिला, क्योंकि माँ का अधिकांश समय तो विशालकाय परिवार के लाव-लश्कर की साज-सँभार में ही बीत जाता था। हास्य के हल्के पुट के साथ उन्होंने लिखा है कि उनके शुरू के दिन नौकरशाही की छाया (नौकरों के आधिपत्य) में कटे। पिता के निदेशानुसार बच्चे कठोर अनुशासन में अपना जीवन बिताते थे। घरेलू शिक्षकों के अलावा, कुश्ती सिखानेवाले एक पहलवान का भी घर में प्रवेश था। समय पर उन्हें पाठशाला भेजा गया, उन्होंने कई पाठशालाएँ बदलीं, पर औपचारिक शिक्षा के लिए वे बने नहीं थे। अन्त में उन्होंने विद्यालय को तिलांजलि दे दी।

चहारदीवारियों में घिरा जीवन (अकेले घर से बाहर निकलने की छूट उन्हें शायद ही कभी मिलती थी) उनकी सम्वेदना पर सान चढ़ा गया; सम्वेदना जिसका जिक्र 'दृष्टि और मानस की सहज क्षुधा' के रूप में उन्होंने बाद में किया। अपने संस्मरणों में उन्होंने इसका वर्णन किया है कि कैसे दौड़कर वे जाड़ों का सूर्योदय निहारने, उसका अभिवादन करने निकल आते थे : "मुझे अब भी याद है कि कभी-कभी, विशेषकर उषाकाल में, मेरा मस्तिष्क एक अद्‌भुत आनन्द से भर उठता था। ऐसा लगता था कि यह ब्रह्मांड कोई गहरा रहस्य ओढ़े हुए है।" हर्ष और विस्मय—बचपन में ही अपने कारयित्री जीवन के दो मुख्य प्रयोजनों का संधान उन्होंने कर लिया था।

साहित्य, संगीत और धर्मचर्या ठाकुर परिवार के अविभाज्य अंग थे। नन्हें रवि ने आसपास की घटनाओं का रसपान ही नहीं किया, उसमें खुलकर हिस्सा भी लिया। उन्होंने किशोरसुलभ नाटकों और कविताओं की भी रचना की जिन्हें बाद के किसी संग्रह में डालने की उन्हें सुध नहीं आयी ! तभी की एक रचना है—

"आओ, मेरी हर्षित बाला, हृदयहीन रूपसि अरी,
आख़िर क्या मैंने उनसे कह डाला ऐसा बार-बार
मेरे हृदयस्थल में चटका है ऐसा अंगार आज
धीरे-धीरे भस्म हुआ जाता है मेरा मन-संसार।"

वैष्णव पदावलियों के हल्के प्रभाव में रवीन्द्रनाथ ने एक युवकोचित प्रयास किया और उसे नाम दिया : 'भानुसिंहेर पदावलि' ('भानु' का अर्थ सूर्य, अर्थात् 'रवि')। बिस्तर पर अधोमुख उन्होंने लिखा :

"फूलों से भरी हैं डालियाँ,
अनुगुंजित वंशीरव से,
छोड़-छाड़ भय-व्रीड़ा,
प्रिय, आओ।"

इनके अलावा कुछ काफ़ी गम्भीर निबन्ध भी उन्होंने लिखे— ऐंग्लो—सैक्सन कविता पर, दान्ते, गेटे और पेट्रार्क पर! क्यों न थोड़ी और अंगरेज़ी सीख ली जाए ... इस विचार के तहत, बार या सिविल सर्विस के लिए इंग्लैण्ड भेजे जाने के पूर्व, उन्होंने कुछ समय अहमदाबाद में अपने भाई सत्येन्द्रनाथ के साथ बिताया। यह प्रवास दो कारणों से स्मरणीय था। जिस घर में वे रहते थे, वह उनकी फंतासी 'क्षुधित पाषाण' की पृष्ठभूमि बना। और यहाँ उनका परिचय हुआ उस स्वतन्त्र,

आकर्षक मराठी लड़की अन्ना तरखर से, जिसके बारे में कुछ अंदाज़ लगाने से *अच्छा है कि हम रवीन्द्रनाथ की ही एक पंक्ति उद्धृत कर दें : "उसे मैं आज तक* भुला नहीं पाया हूँ।" उसके बाद लन्दन विश्वविद्यालय के डेढ़ वर्ष, खुशगवार लेकिन निरभिप्राय थे। उनका पाठ्क्रम तो पूरा नहीं ही हुआ, विभिन्न पत्रों में प्रकाशित उनके ओजस्वी पत्रों से कुछ भ्रूनिक्षेप अवश्य हुए। पिता ने उन्हें वापस बुला लिया।

फिर भी स्मृतियों का पल्ला न छूटा, इसका गवाह 'भग्न हृदय' है! इस हृदयदाह से बचाने के लिए पिता ने उनसे मन्दिर के लिए कुछ भक्ति-पद लिखवाए। ये अच्छे हैं, पर रवीन्द्रनाथ के सर्वोत्तम की झलक देते हैं या नहीं– यह विवादास्पद है। उनकी रूमानी पीड़ी की आहट हमें 'सान्ध्य संगीत' में मिलती है : 'मेरा पथ भूल गया है !" इस अरण्यरोदन का निवारण बंकिमचन्द्रीय 'बोउ ठकुरान हाट' से उतना नहीं हुआ जितना आनन्दप्रद 'प्रभात संगीत' से। इसके केन्द्रीय आनन्दातिरेक-भरे पद का उत्स प्रायः एक रहस्यवादी अनुभूति में है : "जब मैं अट्ठारह साल का था, जीवन में पहली बार अचानक धर्मनिष्ठ अनुभूतियों की एक लहर-सी आयी और आध्यात्मिक यथार्थ की एक पूरी अनुगूँज अपने पीछे छोड़ गयी! विस्मय से पहले दिन मैंने जो कविता लिखी, वह थी, 'प्रपात जागरण' :

"अँधियारी कंदरा में चिड़ियों का यह गीत
तोल रहा है पाँखें !
क्या जाने कैसे यह सम्भव हुआ कि जीवन
गहरी निद्रा से जगकर
अब खोल रहा है आँखें !
धरती पर मैं कल-कल, छल-छल
बहा चलूँगा,
गाऊँगा करुणा का गीत !
कैसा तीक्ष्ण प्रकाश सूर्य का,
कैसा मीठा खग-संगीत !"

आन्तरिक बुनावट का एक अक्स यदि यह था तो दूसरा 'प्रकृति का प्रतिशोध' नामक नाटक। सामान्य भावना और तापस–अस्वीकार के बीच का वैषम्य रवीन्द्रनाथ के यहाँ आधारभूत है। जब तपस्वी परित्यक्त शूद्र कन्या के पास लौटता है, वह मृत्यु का वरण कर चुकी होती है। प्रकृति ने अपना प्रतिशोध ले लिया है। तपस्वी अपना दार्शनिक निष्कर्ष निकालता है : "विराट् लघु में प्रतिच्छायित है, अनन्त रूपों में।"

यह अनुभूति उनकी जीवन-भर की पूँजी सिद्ध हुई। 9 दिसम्बर, 1883 को कुछ अप्रत्याशित ढंग से टैगोर का विवाह पारिवारिक जागीर के एक कनीय पदाधिकारी की लड़की से हो गया। विवाह के छह महीनों के भीतर उनकी प्रिय भाभी कादम्बरी देवी ने आत्महत्या कर ली। क्यों, इस रहस्य पर आज तक पर्दा पड़ा हुआ है। बहुत वर्षों बाद 'छवि' में भाभी को कवि ने एक महत्त्वपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित की, उन्होंने उन्हें 'कवि के अंतःस्थल की कवि' कहा।

थोड़े समय के लिए उन्हें 'ब्रह्म समाज' का सचिव-पद सँभालना पड़ा। इस भूमिका में उन्हें नव-हिन्दूवाद के कुछ प्रवर्तकों के ख़िलाफ खड्गहस्त भी होना पड़ा, जिनमें बंकिमचन्द्र भी एक थे। इन अर्द्धब्रह्मवादी कार्य–कलापों से छुट्टी तब मिली जब कलकत्ता के एक नारी-मंच 'शक्ति समाज' से एक ऐसी नाटिका लिखने का न्योता मिला, जिसके सभी पात्र स्त्रियाँ हों। और तब रची गयी उदास ढंग की वह मदिर नाटिका– 'माया का खेल'। "नहीं प्रीति में सुख यदि"-जैसे श्रुतिमधुर और ऐन्द्रिक इसके गीत बहुत लोकप्रिय हुए। 'राजर्षि' नामक उपन्यास का भी बाद में 'विसर्जन' नाम से नाट्य-रूपान्तरण हुआ, जो मानव-बलि की हिन्दू-रूढ़ि पर एक मार्मिक प्रहार था।

जमींदारी के कामों की भी उपेक्षा नहीं हो सकती थी। रवीन्द्रनाथ एक प्रभावशाली और कार्यदक्ष जमींदार थे। उनके जटिल व्यक्तित्व का यह पक्ष विस्मयकारी हो सकता है, पर इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। यह जमींदार कविता के स्वर्णजगत् का भी उतना ही बड़ा अधिशासी निकला ! सियालदह के एक मेघाच्छन्न दिवस में अचानक वह जादुई पंक्ति फूटी : "गगन गरजे मेघ घन-वर्षा !" बाद में यह पंक्ति उनकी बेहतरीन कविता 'सोनार तरी' के रूप में पल्लवित हुई। इसका संगीत, इसकी प्रतीकात्मकता आलोचकों की पहेली है और सामान्य पाठक की अनेक पीढ़ियों का उच्छल आनन्द ! रवीन्द्रनाथ की अपनी व्याख्या भी इस कविता का अनतिक्रान्त रहस्यलोक विसर्जित करने में समर्थ नहीं हुई। यह आश्चर्यजनक हो सकता है, पर रवीन्द्रनाथ के लिए आश्चर्य-मार्ग ही सहज मार्ग है। 'सोनार तरी' की बहुतेरी कविताएँ परिभ्रामी शैली में हैं ! सच पूछिए तो कविताओं का परिवर्तनशील भूगोल एक रोचक अध्ययन का विषय हो सकता है। रवीन्द्रनाथ जब जीवन को अनन्त यात्रा कहते हैं, तो वे इसकी अर्थव्याप्ति से भी परिचित हैं। उन्होंने जीवन को 'चिरयात्रा' के रूप में चित्रित ही नहीं किया, उसे चिरयात्रा बना भी डाला।

यह वह समय था जब उनका ध्यान शिक्षा की समस्याओं पर गया। शिक्षा-क्षेत्र की सड़ाँधों पर वे खुलकर बोले, 'शिक्षार हेरफेर' में मातृभाषा के उपयोग पर उन्होंने दृढ़ मत दिया। इससे सम्बद्ध एक सहज प्रमेय था कि वे तत्कालीन राजनीतिक

स्थितियों पर भी टिप्पणी करते। विदेशी शासन के अंतर्गत कोई ईमानदार भारतीय देर तक संघर्ष से असम्बद्ध नहीं रह सकता था। बंकिमचंद्र रायबहादुर थे, पर उन्हें भी राज की नाराज़गी का ख़तरा झेलना पड़ा। अपने एक लेख में रवीन्द्रनाथ ने शासन की दोग ली नीति का पर्दाफ़ाश किया था : "यूरोपीय नीतिशास्त्र सिर्फ यूरोपीयों के लिए है।" यह कहनेवाला व्यक्ति खुद कैसे उनसे कारोबारी नाता जोड़ सका, यह आश्चर्य की बात है। उनके दो इतने ही अनुभवहीन भतीजों का भी इसमें योगदान था। इस व्यापार का भट्ठा तो बैठना ही था। एक और साहित्यिक पर अवैतनिक विफलता हाथ आयी – 'साधना' नामक पत्रिका बन्द कर देनी पड़ी। राहत की साँस लेकर उन्होंने मित्र को लिखा : "अन्ततः फिर मेरी बैठक जम पायी है– अपने प्रिय मित्र, आलस्य के साथ !" यही आलस्य उँगलियाँ पकड़कर उन्हें ग्राम प्रांतर में प्रकृति और जनजीवन के निकट खींच लाया। 'गल्पगुच्छ' में संकलित इनकी छोटी कहानियाँ इसका जीता-जागता उदाहरण हैं। इनका यथार्थबोध, काव्यबोध और सामान्य जनजीवन की सहज मानवीय करुणा अप्रतिम है।

यही वह समय था जब दूर-दूर तक फैली ठाकुर-परिवार की पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा हो रहा था। चूँकि रवीन्द्रनाथ इसके विवरणों से सर्वाधिक अभिज्ञ थे, उन्हें अक्सर ही यात्राएँ करनी पड़ती थीं। फिर भी 'मालिनी', 'चैताली' और 'वैकुण्ठ-कथा' - जैसी कृतियाँ लिखने का समय उन्होंने निकाल ही लिया। उसके तुरंत बाद 'पंचभूतेर डायरी' आयी। यह एक नयी तरह की संवाद शैली में है, पर इस कृति की बहुधा उपेक्षा ही हुई। आग्रह पर उन्होंने एक आह्लादकारी नाटिका 'चिरकुमार सभा' लिखी और 'चैताली' की प्रकृतिपूजक-सी कविताएँ ! अक्सर ऐसा लगता है कि ये दोनों कृतियाँ बंगाल और भारत में लगातार अपना यशःप्रताप फैला रहे युवा संन्यासी विवेकानन्द की ओर इशारा कर रहीं हैं। "संन्यासी तो मैं होने से रहा", रवीन्द्रनाथ ने लिखा है। यह कई दृष्टियों से गम्भीर 'नैवैद्य' (1901) में स्पष्ट उच्चरित है : "त्याग मेरा मुक्ति-मार्ग नहीं" अपनी तमाम स्मृति-विह्वलताओं के बावजूद रवीन्द्रनाथ जीवन के आशावादी उपासक रहे।

शान्तिनिकेतन में बच्चों के स्कूल की शुरूआत (दिसम्बर 21, 1901) टैगोर को एक नयी भूमिका में स्थापित करती है। विडम्बनापूर्ण यह कि शुरू के इनके पाँचों विद्यार्थी गेरूआवस्त्र धारी थे ! अब तो लड़कियाँ ही अधिक हैं, शुरू में इनका नामोनिशान नहीं था। स्कूल के परिवर्तन और विकास की एक अलग कहानी है : विफलताओं से महमह : "विद्यालय का विकास मेरे अपने जीवन का विकास है।" थोड़े ही समय बाद, उनकी त्यागमयी पत्नी, जो हमेशा उनके कामों में हाथ बँटाती थी, चल बसी। 'स्मरण' में इकतालीस साल का वह विधुर अपने 'नष्ट नीड़' की बात करता है। उनके बाद उनकी छोटी बेटी, रानी की तबीयत ठीक नहीं रहती

थी और उसे एक जगह से दूसरी जगह ले जाना पड़ता था। अल्मोड़ा से उन्होंने एक मित्र को लिखा। "बच्चे बिखर गये हैं, स्कूल एक तरफ़ है और मैं दूसरी तरफ़।" कलकत्ता लाये जाने के तुरंत बाद ही रानी चल बसी। लेखन जारी रहा। 'शिशु' नाम से उनके कुछ बालगीत भी प्रकाशित हुए। 'बंगदर्शन' नामक प्रतिष्ठित कविता–पत्रिका में उनका गम्भीर योगदान रहा। स्कूल दो वर्षों का हो गया था, उसके विकास के चिह्न भी दीखने लगे थे। युवा आदर्शवादियों में रवीन्द्रनाथ की गहरी निष्ठा थी। 1904 में सतीशचन्द राय नाम के सर्वाधिक प्रतिभावान शिक्षक का असामयिक निधन एक और कहर बनकर टूटा। कुछ और प्रतिभाशाली शिक्षक किसी-न-किसी कारणवश वहाँ टिक नहीं पाए। थोड़े समय के लिए स्कूल को कहीं और ले जाना भी ज़रूरी हो गया।

बाहरी दुनिया में अंगरेज़ों की 'बाँटो और काटो' की राजनीति कारगर सिद्ध हो रही थी। बंगभंग की चर्चा ज़ोरों पर थी। ढाका में मुस्लिम बाहुल्यवाले एक अलग राज्य की पूर्वसूचना लॉर्ड कर्जन दे भी चुके थे। इसकी घोर आलोचना भी हुई थी, जिससे रवीन्द्रनाथ भी गहरे जुड़े हुए थे। 'स्वदेशी समाज' नामक अपने आलेख में टैगोर ने भारतीय राजनीति–दर्शन की सच्ची समस्याओं के आधारभूत कारणों पर प्रकाश डाला। इस विश्लेषण में पुनरुद्धारवाद की गन्ध थी। अगस्त 1904 को रचित 'शिवाजी' नामक इनकी कविता राष्ट्रवादी उत्साह का दूसरा मुख्य उदाहरण है। विभाजन के समय (अक्टूबर 16, 1905) लोगों का दृष्टिकोण और उग्र हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य के बहिष्कार की घोषणा हुई और बहुत हद तक इस पर अमल भी हुआ। कलकत्ता के टाउन हॉल में रवीन्द्रनाथ ने एक पर्चा पढ़ा : 'अवस्था और व्यवस्था', जिसमें समानान्तर सरकार का जोरदार प्रस्ताव उन्होंने रखा। उनके गीत सबके होठों पर थे। कितने ही युवा शहीद रवीन्द्र के गीत की कोई पंक्ति गुनगुनाते हुए खुशी-खुशी फाँसी चढ़ जाते थे। उद्वेलन के इस प्रकर्ष पर उन्होंने 'सोनार बांङ्ला' की रचना की, जो साहित्यिक भाग्य–विडम्बना से कालान्तर में बांग्ला देश का राष्ट्रगान बना। 'लोगों के मन जुड़ जाने दो' शीर्षक अपना ही गीत गाते हुए उन्होंने एक जुलूस का नेतृत्व भी किया। यह वह समय था जब वे जन-जीवन के सर्वाधिक क़रीब थे।

बहिष्कार–योजना के अंतर्गत जातीय विद्यालयों में वैकल्पिक शिक्षा व्यवस्था का प्रावधान भी था। पाठ्यक्रम, सही शिक्षण–पद्धति और सही माध्यम पर अनन्त बहसें होती थीं। जगह–जगह प्रतिरोध–सभाएँ होती थीं। बारीसाल में पुलिस ने सशस्त्र भीड़ पर गोली चलायी। जब नैशनल कॉलेज के प्रधानाचार्य, अरविन्द पर लोगों को बरगलाने का अभियोग लगा, तो रवीन्द्रनाथ ने जिस तरह 'हे अरविन्द, रवीन्द्र का प्रणाम लो !' शीर्षक काव्यांजलि आर्पित की, वह अब लोक-कथाओं की गरिमा प्राप्त क़र चुका है।

अपनी तमाम देशभक्ति के बावजूद रवीन्द्रनाथ हिंसा और हत्याओं की राजनीति के विरुद्ध थे और इसकी खुलेआम घोषणा में भी उन्हें कोई संकोच नहीं था, हालाँकि इससे उन्हें ग़लत भी समझा गया। शायद किसी तरह के विकल्प की टोह में ही उन्होंने अपने पैतृक क्षेत्र में ग्रामोद्धार का कार्य शुरू किया, जिसमें पूर्वी बंगाल के कुछ युवकों और पूर्व क्रांतिकारियों ने भी सहयोग किया। उनके जीवन की त्रासदी का चरम तब आया जब उनका प्रिय बेटा, शमीन्द्र नवम्बर, 1907 में चल बसा। जो समझते हैं कि रवीन्द्रनाथ का जीवन झंझावातों से रहित था, वे उन्हें ठीक से नहीं जानते।

राजनीति में उनकी सक्रिय सहभागिता संक्षिप्त थी, पर भारतीय दर्शन और साहित्य के स्रोतों से इनकी गहरी अभिज्ञता के द्वार इससे खुले ! 'भारतीय इतिहास दृष्टि' उनकी इन्हीं दिनों की कृति है। भारतीय इतिहास की अंतर्धारा किसको निवेदित है ? रवीन्द्रनाथ ने यह प्रश्न उठाया और इसकी अपनी व्याख्या की : "यह इतिहास उन सबका है जो भारतीय हैं।" रवीन्द्रनाथ के सांस्कृतिक समन्वय में साम्प्रदायिकता की तनिक भी गंध भी नहीं है। और इसका साक्षात् उदाहरण है उनकी कविता 'भारत तीर्थ' : "विशाल मानवता के तट से न कोई लौटेगा, न लौटाया जाएगा।"

प्रतिक्रियावादियों के लिए रवीन्द्रनाथ की विश्व-मानवता में बढ़ती हुई आस्था उपहासास्पद भले ही बन गयी हो, रवीन्द्रनाथ के लिए राष्ट्रीय क्षितिज के पार की राजनीति की अनिवार्यताएँ समझना विकास का ही एक चरण था। अपने नाटक 'प्रायश्चित्त', में अपने बाउल साधु धनंजय के मुँह से विश्व-प्रेम का यही संदेश उन्होंने उच्चरित कराया है। पर यह व्यावहारिक से अधिक शायद काव्यात्मक था। तो क्या यह गाँधी की आहट थी ? रवीन्द्रनाथ का मानस दिन-प्रतिदिन अधिक-से-अधिक विश्वजनीन हो रहा था और वे मनसा महात्माओं से एकाकार हो चले थे। एक पत्र में हम उन्हें लिखता हुआ पाते हैं : "हमें सारी संकीर्ण चहारदीवारियों के पार जाना चाहिए और उस दिन का स्वप्न-सन्धान करना चाहिए जब बुद्ध, ईसा और मुहम्मद एक हो जायेंगे।" विश्वमानव का बिम्ब धीरे-धीरे उनके मस्तिष्क में आकार ले रहा था।

किसी और स्थान पर वे तपोवन के विश्वबोध की चर्चा करते हैं। उनका मस्तिष्क किसी और भावजगत की यात्रा में निमग्न था। वे 'गीतांजलि' लिख रहे थे। भले ही यह उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण या महानतम कृति न हो, पर इसने उनकी जीवन-धारा बदल दी, उन्हें विश्व-फ़लक पर स्थापित कर दिया।

'गुरुदेव' रवीन्द्रनाथ का पचासवाँ जन्मदिन शान्तिनिकेतन में मनाया गया। 'जीवन-स्मृति' नामक एक अधूरी आत्मकथा भी उसी वर्ष प्रकाशित हुई। 'द किंग

ऑफ द डार्क चैम्बर' नाम से अंगरेज़ी में भी मंचित, विदेशियों में विशेष लोकप्रिय नाटक 'राजा' भी तभी प्रकाशित हुआ। छब्बीस दिसम्बर को स्कूल चैपेल में वे ईसा मसीह पर बोले। यदि उनके पुराने विचारों वाले पिता जीवित होते तो उन्हें यह बात बहुत रास नहीं आती। रवीन्द्रनाथ का धार्मिक दर्शन परिष्कृत हो रहा था – वे अब सिर्फ़ 'हिंदू' या सिर्फ़ 'ब्रह्म' नहीं रह गये थे। "विश्वात्म दर्शन को ही जीने का अधिकार है," कहनेवाला व्यक्ति अपनी यात्रा में बहुत दूर निकल गया था। आश्चर्य नहीं कि पुरातनपंथी समाज पर उनका व्यंग्य, 'अचलायतन' कट्टर हिंदूवादियों का कटाक्ष-भाजन बना।

'जन गण मन' 1911 में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन के लिए लिखा गया। बाद में इसे ही भारत के राष्ट्रगानों में एक बनना था। कुछ लोगों के मन से यह सन्देह अब तक नहीं गया कि यह गीत मूलतः जॉर्ज पंचम के स्वागत में लिखा गया था। रवीन्द्रनाथ इस सन्देह-चर्चा मात्र से भड़क उठते थे।

थोड़े दिनों बाद अस्वस्थता के कारण उन्हें इंग्लैंड की एक यात्रा स्थगित करनी पड़ी। स्वास्थ्य-लाभ के लिए वे सिलाइदह गये। यहीं 'गीतांजलि' का अंग्रेज़ी अनुवाद सामने आया। अन्ततः 27 मई, 1912 को वे इंग्लैण्ड के लिए रवाना हुए। वहाँ उन्होंने विलियम रोथेन्सटीन को यह पाण्डुलिपि दी, जिनसे वे पहले मिल चुके थे, और प्रकटतः जिन्होंने यह पाण्डुलिपि माँगी थी। उसके बाद क्या हुआ, सर्वविदित है। जो भी उनसे मिला, उनके सम्पर्क में आया – इस रचना से अभिभूत हुआ। सर्वाधिक उत्साहित विलियम बटलर येट्स नज़र आए, पर यह उत्साह बहुत दिन टिका नहीं। पहले इण्डिया सोसायटी, और फिर मैकमिलन ने यह पुस्तक छापी।

पुस्तक को उसके भाग्य-भरोसे छोड़कर रवीन्द्रनाथ धर्म, संस्कृति, जाति सम्बन्धों पर भाषणादि करते हुए अमरीका पहुँचे। ये भाषण उनके पुराने निबन्धों की अनुकृतियाँ हैं। रवीन्द्रनाथ अपने सर्वोत्तम स्वरूप में यहाँ नहीं हैं। उनके भाषणों में एक ख़ास तरह का पुरानापन भी है।

दूसरी ओर ठीक इसी समय 'गीतांजलि' का जादू छा रहा था। अरसिक पाठकों-आलोचकों की भी कमी नहीं थी, पर कुल मिलाकर प्रतिक्रिया उत्साहवर्द्धक थी – ऊँचाइयाँ छूनेवाली। येट्स इसकी पाण्डुलिपि लिये-लिये कई दिनों तक रेलों-बसों और रेस्त्राओं में घूमे। ऐन्ड्रू ब्रैडले ने लिखा : "ऐसा लगता है, अन्ततः एक महाकवि हमारे बीच पैदा हो ही गया है!"

19 नवम्बर, 1912 को भारत लौट आने के बाद उन्हें नोबेल पुरस्कार प्राप्ति का समाचार मिला। यह बहुत अप्रत्याशित नहीं था। कहा जाता है कि इस पर इनकी प्रतिक्रिया थी कि अब मेरी शान्ति गयी। इसने उन्हें अंतर्राष्ट्रीय सम्मान और ख्याति दी, यह तो स्पष्ट ही है। घोंसले की चिड़िया अपना आकाश पा गयी।

'बलाका' (1916) में गीतों का स्वाद बदला-सा है – 'गीतिमाल्य' और 'गीतांजलि' के मीठे, उदास गीतों के बाद एक उन्मुक्त ज्वार-सा सामने दिखायी देता है। कश्मीर में लिखित केन्द्रीय कविता की स्मरणीय पंक्ति है : "यहाँ नहीं, वहाँ नहीं – उर में दूरस्थ के।" आवां गार्द पत्र 'सबुज पाता' यानी हरि पत्तियों में रवीन्द्रनाथ की वाणी यौवनसुलभ, आवेगमय और प्रतिरोधपरक है। उनके बारे में यह कहा जाता है कि अवस्था के साथ उनकी यौवनसुलभ तरलता बढ़ती ही गयी। 'स्त्रीर पत्र', 'नष्ट नीड़', 'घरे-बाहिरे' आदि में स्त्री की समस्याओं से उनका गहन सरोकार ज़ाहिर होता है। स्वाभाविक है कि पुराणपंथी इससे रुष्ट होते। उन्हीं हाथों ने 'फाल्गुनी' की सूक्ष्म प्रहेलिका की भी सृष्टि की जो युवा अनुष्ठानकों की समझ के परे था। लेकिन रवीन्द्रनाथ को यह खुद इतना प्रिय था कि इसमें उन्होंने दो-दो भूमिकाएँ निभायीं कवि की और बाउल की भी।

अपने 'राम झरोखे' से रवीन्द्रनाथ ने गाँधी के दक्षिणी अफ्रीकावाले सत्याग्रह पर भी निगाह दौड़ायी थी। 6 मार्च, 1915 को दोनों पहली बार शान्तिनिकेतन में मिले। यह उतार-चढ़ाव-भरी एक लम्बी दोस्ती की शुरूआत थी। अगले वर्ष (1916) भाषण शृंखलाएँ आयोजित करानेवाली एक संस्था के निमंत्रण पर रवीन्द्रनाथ ने अमरीका जाना स्वीकार किया। इससे उन्हें जापान घूम आने का भी सुयोग मिला जहाँ शुरू-शुरू में उनका भरपूर स्वागत हुआ। पर जैसे ही वे राष्ट्रीयता के दोषों पर मुखर हुए, लोगों ने अपनी आँखें फेर लीं। जापान से रवाना हुए, तो जहाज़ तक छोड़ने आनेवाला सिर्फ़ एक व्यक्ति था – वही बेचैन-सा व्यक्ति, जिसके घर वे ठहरे हुए थे। अमरीका की यह भाषण शृंखला थका देनेवाली साबित हुई, और आगे का कार्यक्रम रद्द कर ये जल्दी ही घर लौट आए! 'व्यक्तित्व' और 'राष्ट्रवाद' नामक दो पुस्तकें इस निष्फलप्राय यात्रा का निष्कर्ष हैं।

राष्ट्रवाद के खुले विरोध ने देश में भी उनके कई विरोधी खड़े किए थे। उनके नवपल्लवित अंतर्राष्ट्रीयतावाद की अक्सर एक कृत्रिम मुद्रा में खुली आलोचना हुई लेकिन रवीन्द्रनाथ अराष्ट्रीय नहीं थे। एक बार फिर सरकार की दमनकारी नीति का उन्होंने खुला विरोध किया। ऐसा लगा कि राष्ट्रीयता उनमें फिर से जगी है। उसके बाद जलियाँवाला बाग़ का भयानक हत्याकाण्ड हुआ। 13 अप्रैल, 1919 को पुलिस ने अमृतसर में निहत्थी भीड़ पर गोली चलायी। अनेक मार डाले गये, अनेक घोर अपमान का शिकार हुए। अख़बारों का मुँह बन्द कर दिया गया। जब बात खुली, भारतीय नेताओं में रवीन्द्रनाथ अकेले ही थे जिन्होंने इतनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने वाइसराय को एक शालीन पत्र के साथ नाइटहुड की उपाधि लौटा दी। जब देश इस भयंकर तूफ़ान से गुज़र रहा था, जोरासांको की अट्टालिका में 'डाकघर' मंचित हुआ। दर्शकों में एनी बेसेंट, मोहनदास करमचन्द गाँधी और मदनमोहन मालवीय भी थे।

स्कूल के विस्तार की बात उनके मन में इधर कुछ समय से लगातार उठ रही थी। अडयार के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के कुलपति की कुर्सी से बोलते हुए उन्होंने भारतीय संस्कृति-केन्द्र की स्थापना का स्वप्न सामने रखा—इसी रूप में शान्तिनिकेतन का विकास वे चाहते थे। इसी समय 'लिपिका' की सरस नीति-कथाओं का निर्बाध सृजन भी जारी था। इस गद्य में कविता प्रच्छन्न थी। बाङ्ला कविता का एक आधुनिक संकलन 'लिपिका' के एक अंश के सार्थक उद्धरण से शुरू होता है।

1920 में रवीन्द्रनाथ दोबारा यूरोप गये। यह यात्रा ग़लत समय पर हुई। 'नाइटहुड' उन्होंने हाल ही में ठुकरायी थी, ब्रिटेन के लोग गर्मजोशी से नहीं मिले। रवीन्द्रनाथ ने कहा कि कम-से-कम जलियाँवाला बाग हत्याकांड पर तो अंग्रेज़ों को अपनी भूल का एहसास होना चाहिए, पर इससे बात कुछ बनी नहीं। वे पेरिस गये, जहाँ सिल्वां लेवी कॉमतेसद नावलिस आदि से उनकी मुलाकात हुई। नीदरलैण्ड के उनके व्याख्यानों में उपस्थिति अच्छी रही, पर अमरीका में उनकी जान-बूझकर इतनी उपेक्षा की गयी कि मेजर बॉण्ड नामक उनकी यात्राओं के व्यवस्थापक ने आगे कुछ और इन्तज़ाम कर पाने में अपनी स्पष्ट असहमति जता दी। बाद में किसी तरह टेक्सास-जैसे स्थान पर एक-आध कार्यक्रम हो पाया, पर चन्दा उगाहने के अपने उद्देश्य में यह यात्रा विफल ही रही। अच्छी बात बस यही हुई कि एल.के. एलम्हर्स्ट नामक उस उत्साही अंगरेज़ युवक से उनकी मित्रता की नींव यहाँ पड़ी जो बाद में श्रीनिकेतन के ग्रामीण विकास-कार्यक्रमों में उनका दाहिना हाथ बना। लौटते हुए जब स्विट्ज़रलैण्ड गये, तो कुछ बात बनती नज़र आई। जर्मनी में उनका भव्य स्वागत हुआ। उनका साठवाँ जन्मदिन भी धूमधाम से मनाया गया। अभिभूत स्वर में कवि बोले : "मुझे लग रहा है, यह मेरा दूसरा जन्म है।" कॉपेनहेगेन में मशाल-जुलूस से उनका अभिवादन हुआ। उप्सला के गिरिजाघर में उन्हें पादरी के स्थान से बोलने का अभूतपूर्व गौरव प्राप्त हुआ। डॉर्मस्टैड में काउण्ट केसरलिंग के 'विज़डम स्कूल' में उन्होंने क़रीब एक हफ़्ता बिताया। यह हफ़्ता 'रवीन्द्र सप्ताह' के रूप में मनाया गया।

इधर भारत की स्थिति बद से बदतर हो रही थी। गाँधीजी ने असहयोग-आन्दोलन शुरू किया था। इससे 'शान्तिनिकेतन' भी अछूता नहीं रहा। जुलाई, 1921 में कवि भारत लौटे। अभी राजनीतिक चर्चाओं का बाज़ार गरम था, जिसने कवि का बहुत समय लिया। विद्यालयों में अब तक लोकप्रिय 'शारदोत्सव' की रचना तभी हुई। इससे भी महत्त्वपूर्ण घटना थी 'विश्वभारती' नामक आज की विख्यात संस्था की लोककोष के रूप में उद्घोषणा। एलम्हर्स्ट इसके निर्देशक थे, ग्रामोद्धार की योजना में उन्होंने प्राण फूँके। पैसों का इन्तज़ाम अमरीका से

हुआ। कुछ विदेशी प्राध्यापक भी आए, पर इतने-भर से विश्वभारती की समस्याओं का निदान नहीं हुआ। और पैसों की ज़रूरत थी, चन्दा उगाहना रवीन्द्रनाथ के लिए कष्टसाध्य था।

उनका मन-मस्तिष्क और क्षितिजों पर भी जाग्रत था। रक्त करबी औद्योगिक सभ्यता के अमानवीय पक्षों का मार्मिक उद्‌घाटन है। वे जीवन और प्रकृति के पक्षधर थे। पर नन्दिनी – इसकी नायिका–उनके विचारों को कुछ इस हद तक मूर्तिमान करती है कि कठपुतली लगती है। नाटक का नाभि-केन्द्र उसका अन्तिम मार्मिक प्रगीत है। नाटक का और इसका स्वर आधुनिकता-विरोधी तो है ही।

इसी समय चीन से एक न्योता आया जो उन्होंने स्वीकार भी किया। उनकी इस यात्रा से दोनों देशों के सांस्कृतिक सम्बन्ध सुदृढ़ हुए। इसके तुरंत बाद उन्हें पेरू का स्वतन्त्रता–दिवस मनाने पेरू जाना था, पर अस्वस्थता के कारण इस समय वह यात्रा रद्द करनी पड़ी। डॉक्टरों ने उन्हें पूर्ण विश्राम की सलाह दी। सैन इसिरडो में एक आकर्षक, सुदक्ष स्त्री ने अपने गाँव-प्रान्तर के भव्य भवन में इन्हें भावप्रवण आतिथ्य दिया। इससे इन दिनों के बीच एक ख़ास तरह की स्निग्धता पनपी, जिसके सही स्वरूप को लेकर शोधार्थी आज तक तरह–तरह की अटकलें लगाते नहीं थकते। 'पूर्वी' नामक मसृण प्रेमगीतों का संग्रह उसी को समर्पित है। अन्तिम दिनों की कविता 'शेष लेखा' (संख्या पाँच) में इसका स्वीकारोक्तिपरक उल्लेख इससे जुड़ी सारी अटकलों का स्पष्ट समाधान है।

मई, 1925 को महात्मा गाँधी शान्तिनिकेतन आए। दोनों के बीच बहुत-से राष्ट्रीय मुद्दों पर विमर्श हुआ, चरखा कातने के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों पर भी चर्चा हुई। आश्चर्यजनक है कि रवीन्द्रनाथ का चिन्तन इस विषय पर अधिक तर्कसम्मत था और चरखे को वे एक प्रतीक के सिवा कुछ नहीं मानते थे। 'चरखा' और 'स्वराज' पर रवीन्द्रनाथ के दो कालजयी निबन्ध हैं। उनका विचार है कि ये दोनों देश की मुक्ति का मार्ग नहीं दिखाते। थोड़े दिनों बाद दो इतालवी विद्वान मुसोलिनी की तरफ़ से कुछ उपहार लेकर आए। रवीन्द्रनाथ को अच्छा लगा। उनकी चर्चा अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व पा रही थी। उन्होंने दूसरे ड्यूक को धन्यवाद का एक तार भेजा। इस साल के अन्त में वे कलकत्ता की अखिल भारतीय दर्शन-कांग्रेस में अध्यक्ष-पद से बोले। हालांकि भारतीय दर्शन उनका विषय था, पर अधिकांशतः वे बाउल कविता पर ही बोलते रहे, जिससे उनका शुरू से ही गहरा तादात्म्य था। कुछ लोग तो उन्हें 'रवि बाउल' भी कहने लगे थे।

ढाका और पूर्वी बंगाल की छोटी और सुखद यात्रा पुरानी स्मृतियाँ ताज़ा कर गयी, पर यह आह्लाद क्षणिक था। कलकत्ता लौटने पर साम्प्रदायिक दंगों का उत्तप्त प्रमाद उन्हें सहना पड़ा। असहाय जन उनके भवन में शरण लेने आए।

उन्होंने गहरी खिन्नता से लिखा : "यदि सभी धर्मों के होलिका-दहन के बाद भारत अपना सच्चा धार्मिक स्वरूप पा सके या सच्ची नास्तिकता ही, तो मैं समझूँगा – इसका पुनर्जन्म हुआ।" ये शब्द कड़वे ज़रूर हैं, पर यह कटुता अकारण नहीं।

उनके रचना-संसार में उल्लेख्य बौद्ध-दर्शन पर आधारित 'नटीरपूजा' भी है, जिसका स्पर्श पहले ही एक कविता में भी मिलता है; बलिदान की यह मार्मिक गाथा है। पहले–पहल शिक्षित परिवारों की लड़कियाँ तभी मंच पर आयीं, यह अपने-आप में एक क्रान्ति थी।

थोड़े ही दिनों में मुसोलिनी की तरफ़ से इटली-भ्रमण का न्योता आया। वे नहीं' क्यों कहते । वहाँ खूब स्वागत-सत्कार हुआ। सरलचित्त कवि ने मुसोलिनीकालीन इटली की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उनके सहयात्रियों में कोई इतालवी नहीं जानता था। कोई नहीं जान पाया कि समाचार-पत्रों में इसकी कितनी तीव्र आलोचना हुई। रवीन्द्रनाथ जब रोमां रोलां से मिले तो उन्होंने इन्हें बहुत खरी-खोटी सुनायी और बताया कि फ़ासिस्ट सरकार के समर्थन में उन्होंने अनजाने ही क्या-क्या कह डाला है। अनभिज्ञता के लिए क्षमाशील, 'मैनचेस्टर गार्डियन' में उन्होंने अपना स्पष्टीकरण प्रकाशित कराया। इस घटना से उनकी आँखें खुल गयीं।

इटली से वे इंग्लैण्ड गये, फिर नॉर्वे, जर्मनी और केन्द्रीय यूरोप। बालाटन झील के किनारे, जहाँ उन्होंने विश्राम किया था, कवि की एक स्मृति अंकित है, जिस पर खुदा है : 'कवि जो जब तक जिया, प्यार करता रहा।' वहाँ उन्होंने एक लता लगायी थी जो अब तक जीवित है। बेलग्राड से वे सोफ़िया गये, सोफ़िया से बुखारेस्ट, बुखारेस्ट से इस्ताम्बूल, इस्ताम्बूल से एथेन्स, एथेन्स से कैरो ... "लगता था, यह यात्रा कभी ख़त्म नहीं होगी"।

दिसम्बर, 1926 को जब वे भारत लौटे, तो यहाँ साम्प्रदायिक दंगों का तनाव व्याप्त था। उनके पुराने परिचित स्वामी, श्रद्धानन्द, जो एक बार शान्तिनिकेतन भी आये थे, दंगाइयों के अंधे उन्माद का शिकार हो चुके थे।

रवीन्द्रनाथ फिर से समुद्री यात्रा पर निकल पड़े। उनका पुराना स्वप्न था कि दूरस्थ पूर्व से भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना हो। बिड़ला के आर्थिक सहयोग से छह अन्य जनों के साथ रवीन्द्रनाथ सिंगापुर, मलाया, जावा, बोर्नियो, सुमात्रा और इण्डोनेशिया गये। वहाँ के भावभीने स्वागत-सत्कार से वे बहुत अभिभूत भी हुए। 'सागरिका' नामक काव्यांजलि धन्यवादमूलक ही है : "तुम्हारा अतिथि बनकर आया हूँ, मैं बोला .... तुम्हारे सागर-तट के वन-प्रान्तरों में / जहाँ बहती है दक्खिनी हवा / वीणा है सिर्फ़ / देखो मुझे, मुझे पहचानते हो न ?"

तीन पीढ़ियों में व्याप्त एक उपन्यास की संकल्पना उन्होंने की थी, पर 'योगायोग' पूर्ण नहीं हो पाया। जो भी हिस्सा उसका लिखा गया, वह दमनकारी पौरुष और सम्वेदनशील स्त्रीत्व के अंतःसंघर्ष की प्रभापूर्ण कथा है।

राष्ट्रीय शिक्षा-समिति के न्योते पर जब वे कैनाडा गये, तो 'फ़ुर्सत के दर्शन' पर उनका भाषण हुआ। घर लौटकर वे छात्रों में आत्मरक्षा की जापानी कला के प्रचार-प्रसार की ओर प्रवृत्त हुए। जापान से एक जानकार व्यक्ति सिखाने भी आया, पर इनकी और बहुत सारी योजनाओं की तरह यह योजना भी अधूरी ही रही।

ऑक्सफ़ोर्ड की हिब्बर्ट-व्याख्यानमाला का प्रस्ताव अस्वस्थता के कारण मान्य न हो सका था। फिर वे व्याख्यान 1930 में दिये गये। उनका विषय उन्होंने चुना– 'मनुष्य का धर्म' कुल मिलाकर बात कलाकार के धर्म और कवि की आस्तिक आत्मस्वीकृतियों पर आकर ठहर गयी। लम्बे, विद्वतापूर्ण वक्तव्य रवीन्द्रनाथ के वश के नहीं थे। इन्हें विशिष्ट गरिमा देनेवाले तत्त्व हैं : अतःप्रज्ञापूर्ण दृष्टि, जगत के उस पार के जीवन की स्मृतिकार व्याख्या और एक विकासमान दर्शन। यदि ये संक्षिप्त होते तो अधिक अच्छे लगते।

इधर उनकी एक नयी रुचि पनप रही थी – चित्रकला और रंगकारी। अपने कुछ चित्र पेरिस की एक प्रदर्शनी में भी वे ले गये। उन्हें सराहा भी गया, पर भारत में स्थिति भिन्न थी। अधिकतर लोगों को ये फंतासी-भरे, अभारतीय और कम-से-कम ग़ैर रावीन्द्रिक तो लगे ही। ये वे रवीन्द्रनाथ नहीं थे, जिन्हें वे जानते-मानते थे। पर सृजनधार्मिता सम्भवतः तर्कातीत होती है। रवीन्द्रनाथ ने एक झटका-सा दिया था। उन्होंने ऐसे प्रयोग किए थे जो शायद वे कविता में नहीं कर पाते। आधुनिकतावादियों के लिए यह रवीन्द्रनाथ अधिक महत्त्वपूर्ण थे।

उनकी एक चित्र प्रदर्शनी बर्लिन में हुई। यहाँ उनकी आइन्टाइन से एक अधूरी पर स्मरणीय बातचीत हुई। उनकी जीवन-दृष्टियाँ आपस में मिलती नहीं दिखायी दीं। रवीन्द्रनाथ को 'पैशन नाटक' दिखाने औबेरामारगाउ ले जाया गया। 'द चाइल्ड' नामक उनकी इकलौती अंगरेज़ी कविता इसी यात्रा में लिखी गयी। मिथकों-प्रतीकों का अद्भुत समागम .... यह एक अनूठी, गहरा प्रभाव छोड़नेवाली रचना है। इतिहास-दर्शन, जिससे कविता शुरू होती है, कवि के लिए एक नयी चीज़ थी। उसका शहीद महात्मा गाँधी की मृत्यु का पूर्वाभास कराता-सा दीखता है : "मृत्यु के बाद वह महान शहीद हम सबके जीवन से एकाकार हो चला।"

रूस की सरकार ने उन्हें बुलाया और एक छोटी टोली के साथ वे मॉस्को रवाना हुए। यह 'तीर्थयात्रा' (उन्हीं के शब्दों में) कई तरह से एक नये ढंग का अनुभव था। **सबसे अधिक वे वहाँ की शिक्षा और सहकारी समितियों से प्रभावित** हुए। हालाँकि **मार्ग और अभीष्ट के मूल प्रश्नों पर उन्होंने अपने सन्देह** ज़ाहिर

नहीं किये, पर यह स्पष्ट है कि प्रश्न उनके मन में ज़रूर उठे। कहा जाता है कि रूस से लौटने के कुछ दिनों तक उन्हें यह धुन-सी सवार रही कि वैयक्तिक सम्पत्ति को वे एक ख़ास तरह की सहकारी-समिति के हवाले कर देंगे ! लेकिन कई और सदिच्छाओं की तरह यह भी पूरी नहीं हो पायी।

संक्षिप्त अमरीका-प्रवास के बाद, जहाँ उनके चित्रों की प्रदर्शनी हुई, वे भारत लौटे। उनका सत्तरवाँ जन्मदिन धूमधाम के साथ देश-भर में मनाया गया। शान्तिनिकेतन के आम्र-कुंज से बोलते हुए उन्होंने कहा : "मैं तो कवि हूँ, स्वभाव से ही सम्पूर्णता का समर्थक।"

राष्ट्रीय परिदृश्य निराशाजनक था। लन्दन की दूसरी गोलमेज़ सभा निष्फल हुई थी। भारत में गाँधी-विलिंगडन संधि-वार्ता का शब्दशः उल्लंघन हुआ था। उनके भारत आने के कुछ ही दिनों बाद गाँधीजी गिरफ़्तार कर लिए गये। रवीन्द्रनाथ ने विरोध व्यक्त किया, सरकार की नीतियों को 'दुर्भाग्यपूर्ण' कहा। कहा कि इनका सीधा परिणाम होगा—शाश्वत दुराव।

लेकिन उन्हें फिर देश के बाहर जाना पड़ा। रज़ा शाह पहलवी ने उन्हें ईरान बुलाया था। उनका सत्तरवाँ जन्मदिन तेहरान में भी मनाया गया। सत्तर गुलाबों की एक माला उन्हें पहनायी गयी। उनका चित्त खिल गया। लिखा : "ईरान, तुम्हारे बगीचे के गुलाब और तुम्हारे देश के पक्षी ने दूरस्थ देश के एक कवि का जन्मदिन मनाया है।" ईरान से वे ईराक़ गये। उन्हीं के अनुरोध पर बदाउओं के खेमे में उनके मुखिया से उनकी भेंट की व्यवस्था हुई। अपने शुरूआती जीवन में कवि ने एक अरब बदाऊ होने का सपना देखा था।

भारत में उनके लिए एक बुरी ख़बर बाट जोह रही थी। जर्मनी में उनका इकलौता पौत्र चल बसा था। यह एक हृदयविदारक घटना थी, पर एक कविता में हम उन्हें कहते हुए सुनते हैं : "मैं अपनी कविताओं से कहता हूँ, सज्जित न करो मुझे उस दुख के गान से/जो सबका नहीं है।" यह उनके एक गद्य-गीत का हिस्सा था, उनके मुक्त छन्द का अद्यतन प्रयोग था।

ख़बर पहुँची कि पुणे के यरवदा कारागृह में गाँधीजी आमरण अनशन कर रहे हैं। रवीन्द्रनाथ ने उन्हें बधाई का एक तार भेजा। बाद में जब उपवास टूटा, वे गाँधीजी के पार्श्व में ही थे और उन्हीं के अनुरोध पर उन्होंने 'गीतांजलि' से वह गीत फिर सुनाया : "जब हृदय प्यास से तप्त हो ... तुम गीतों की बौछार लिए आना।"

अगले वर्ष रवीन्द्रनाथ को कलकत्ता विश्वविद्यालय में कमला व्याख्यानमाला के अंतर्गत व्याख्यान देने थे। इस बार वे बाङ्ला में 'मानुषेर धर्म' शीर्षक से बोले।

उसके बाद बिल्कुल विरोधी स्वर की दो रचनाएँ सामने आयीं : रूढ़िग्रस्त समाज पर एक सहज संगीतमय व्यंग्य और 'चण्डालिका' नामक बौद्ध-कथा पर आधारित एक नाटिका। यह अछूत जाति की एक कन्या की कथा है जो बुद्ध के एक शिष्य से प्रेम कर बैठती है और फिर उन्हीं की पहल से उसके दुख भी दूर होते हैं। लड़की रवीन्द्र-शैली की प्रांजल भाषा बोलती है; और यह नाटिका उत्कृष्ट मनोरंजन का स्रोत भी है।

दोनों नाटिकाएँ कलकत्ता में मंचित हुईं। फिर से रवीन्द्रनाथ अर्थ-संचयन के लिए पर्यटन पर निकल पड़े। 'मनुष्य' शीर्षक से ये आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर में बोले। वहाँ से वे हैदराबाद गये। शुरू में निज़ाम ने विश्वभारती में इस्लामिक अध्ययन केन्द्र हेतु कुछ पैसे दिए थे। बम्बई की एक संक्षिप्त यात्रा के बाद वे कलकत्ता लौट आए, जहाँ अपने आदर्श, राममोहन रॉय पर बोले। उन्होंने उन्हें एक नाम दिया : 'भारत-पथिक'! जवाहरलाल भी थोड़े समय के लिए शान्तिनिकेतन आए, जहाँ उनकी बेटी, इन्दिरा पढ़ रही थी। उसी समय एक छोटा-सा विवाद पनपा : बिहार के 1934 के भूकम्प को गाँधीजी ने छुआछूत के पाप का प्रतिफल बताया। रवीन्द्रनाथ इस दकियानूसी का विरोध किये बिना न रह सके।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का दीक्षान्त समारोह सम्बोधित करने के बाद वे लाहौर गये। गुरु गोविन्द सिंह पर लिखी उनकी एक कविता के ग़लत अनुवाद के कारण सिक्खों को कुछ ग़लतफ़हमी हो गयी थी। आसानी से, सौहार्द्रपूर्वक वह ग़लतफ़हमी दूर हो गयी।

सदा के क्रांतिकारी कवि ने भवननिर्माण-कला में भी एक नई सूझ दी :– 'श्यामली' नामक मिट्टी की कुटिया, जिसमें वे प्राण छोड़ना चाहते थे, शान्तिनिकेतन के छात्रों द्वारा मनोयोगपूर्वक सजायी गयी। पर कई कारणों से वह रहने योग्य नहीं हो पायी, और महाप्रयाण के पूर्व उन्हें निकट ही दो-दो बार घर बदलने पड़े। पर 'श्यामली' आज भी खड़ी है– एक दिव्य आविर्भाव-जैसी।

1936 में कलकत्ता की एक शैक्षिक सभा में वे बोले, जहाँ उन्होंने गृह-विश्वविद्यालय योजना का सुझाव दिया। उनकी अपनी विश्वभारती ने एक लोक-शिक्षा-संसद् की स्थापना की। उसके तुरंत बाद अर्थ-संचयन के ध्येय से उन्होंने उत्तर भारत का भ्रमण किया – पटना, इलाहाबाद, लाहौर और दिल्ली गये। 'भीख की कटोरी' (ये उनके अपने शब्द हैं) लिये हुए रवीन्द्रनाथ को देखना कष्टप्रद था। महात्मा गाँधी विश्वभारती की आर्थिक कठिनाइयों के बारे में पूछने खुद उनके पास गये। उनके कहने पर एक अनाम व्यक्ति ने चेक भेजा और कवि समझा-बुझाकर अपने नीड़ में वापस भेज दिये गये।

उसके बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय का दीक्षान्त समारोह आया। उसे उन्होंने

बाङ्ला में सम्बोधित करके अंग्रेज़ी में भाषण की परम्परा को समूल ध्वस्त किया। 15 अप्रैल, 1937 को जवाहरलाल नेहरू ने शान्तिनिकेतन में भारत-चीन अध्ययन के लिए 'चीन भवन' का उद्घाटन किया, जिसके निदेशक तान यान-शान थे।

उसके बाद उन्होंने दो पुस्तकें प्रकाशित कीं, जिन्हें विषयवस्तु की दृष्टि से एक दूसरे से कोई लेना-देना नहीं था। एक लोकगीतों का संग्रह था – हरिहार छवि और दूसरी 'विश्व परिचय' नामक प्रारम्भिक विज्ञान की एक पुस्तिका थी। धीरे-धीरे उम्र के साये घने होते गये और उन्होंने 'पातिसर' (अब बाङ्ला देश) के अपने पुश्तैनी ग्रामप्रांतर की अन्तिम यात्रा की। अन्त समय तक वे अन्याय के विरुद्ध बोले, इस बार अण्डमान के राजनीतिक क़ैदियों के मानवीय उत्पीड़न पर।

तभी एक घटना घटी। दुखदायी आगत का पूर्वाभास। एक शाम बात करते-करते वे अचानक बेहोश हो गये। हालाँकि जल्दी ही होश में आ गये, पर यह हादसा कुछ संकेत छोड़ गया। 'प्रांतिक' मृत्यु के स्पर्श से आक्रान्त एक नयी तरह की रचना थी। शुरू वाली कविता की आरम्भिक पंक्तियाँ थीं : 'अँधियारे की छाती में मृत्यु-दूत उतरा, क्लेश के तेजाब से धोने मैल मन का।" यह अस्तित्ववादी पीड़ा थी, कोई रूमानी क्लेश नहीं। आड्यू के पहाड़ी प्रदेश में मैत्रेयी देवी की स्नेहिल छाया ने विश्राम के कुछ शान्त-मधुर महीने भेंट किए, जिसका एक जीवन्त दस्तावेज़ मैत्रीयीजी ने 'न हलते' में प्रस्तुत किया है।

जब चीन और जापान के बीच युद्ध छिड़ा, रवीन्द्रनाथ को बहुत तकलीफ़ हुई। उन्होंने दोनों देशों को क़रीब से जाना-माना था। जब जापानी कवि योन् नागुची ने जापानी आक्रमण के समर्थन के लिए उन्हें पत्र लिखा तो उनकी पीड़ा और गहरी हो चली। नागुची के नाम उनके आहत-से पत्र की अन्तिम पंक्ति थी : "ईश्वर तुम लोगों को, जिन्हें मैं प्यार करता हूँ, सफलता नहीं, पश्चात्ताप दे।"

भारत और विश्व, दोनों संकटापन्न थे। 1 सितम्बर, 1939 को दूसरे विश्वयुद्ध की घोषणा हुई। भारतीय नेताओं ने सुझाया था कि भारत अलाएड धारा का समर्थन तभी करेगा जब ब्रिटेन भारत को स्वतन्त्र घोषित कर दे। यह बात मानी नहीं गयी। भारत को आज़ादी नहीं मिली और यूरोप युद्ध में फँस गया। शान्तिनिकेतन के क्रिसमस-दिवस पर रवीन्द्रनाथ ने लिखा :

"जिन्होंने ईश्वर के नाम पर ईसा की हत्या की थी, फिर से
पैदा हो गये-से दीखते हैं

पवित्र चोंगो में वे मिलते हैं प्रार्थना-गृहों में
'मारो–काटो' कहते सैनिकों से।
चीख़-पुकार उनके भजनों से

ऐसे घुली-मिली है कि
मनुपुत्र दुःखकातर कहता है –

'भगवान, इस कटुतम विष से भरा हुआ
प्याला तुम फेंको !"

अप्रैल, 1940 को गाँधीजी शान्तिनिकेतन आये। विश्वभारती के आर्थिक संरक्षण हेतु उन्होंने एक छोटा-सा लिखित निवेदन गाँधीजी से किया; 'शान्तिनिकेतन' की उस नौका की उपमा दी, जिसमें उनके जीवन की सारी पूँजी लदी थी। 7 अगस्त को उन्हें ऑक्सफ़ोर्ड से डी लिट् का सम्मान मिला। शरीर रुग्ण था, मस्तिष्क सजग ! 'लेबोरेटरी' और 'बदनाम' नाम की उनकी दो कहानियाँ जान-बूझकर आधुनिकतावादी रंग में लिखी गयी थीं। कलिम्पोंग का पुराना पहाड़ी आश्रम स्वास्थ्य-सुधार की दिशा में विशेष योगदान नहीं कर सका, बल्कि हालत बिगड़ी ही। अगले कुछ महीनों में ही वे शय्या से लग गये।

पर लेखन जारी रहा। 'रोगशय्या' और 'आरोग्य' आत्मविश्लेषण में निष्ठुर, क्लान्त और नितान्त ख़ामोश रचनाएँ हैं : 'मुझे पता है अपनी विफलता का बिन्दु, मैं जानता हूँ, मेरी कविताएँ सब तक पहुँचने से समर्थ नहीं हुईं।' सत्तात्मक परिदृश्य और भी निराशाजनक था।

उनके अन्तिम जन्मदिन का सन्देश 'सभ्यता का संकट' नाम से पढ़कर सुनाया गया, कवि पहियोंवाली कुर्सी पर क्लान्त-से अधलेटे पड़े रहे। वे थके ज़रूर थे, पर जीवन के प्रति अपनी आस्था उन्होंने अन्तिम क्षणों तक अप्रतिहत रखी : "मनुष्य मात्र में विश्वास खोने का जघन्य पाप मैं नहीं करूँगा।"

अन्त में उनकी शल्य-चिकित्सा हुई और उन्हें कलकत्ता ले जाया गया। वे इतने कमज़ोर हो गये थे कि खुद लिख नहीं पाते थे, पर दो अजब-सी भयकारी कविताएँ उन्होंने लिखवालीं : 'दुख की काली रात' तथा 'छलिया तुम'! इनसे उनके जीवन और काव्य पर नया प्रकाश पड़ता है।

7 अगस्त को वे चल बसे। पर वे कौन थे ? क्या वे जानते थे, क्या कोई जानता है ?

"प्रथम दिवस के सूर्य ने
नये जीवन की आहट पर पूछा था –
'कौन हो तुम ?
कोई भी उत्तर नहीं आया।

वर्ष पर वर्ष बीते
दिन के अन्तिम सूरज ने
यह अन्तिम प्रश्न किया
पश्चिम के सागरतट से
मूक सन्ध्या में–
'कौन हो तुम ?'
कोई उत्तर नहीं मिला उसे फिर !"

युग पर युग बीत जायेंगे। यह प्रश्न अनुत्तरित ही गूँजेगा। आनेवाली पीढ़ियाँ सोचती ही रहेंगी।

कविता

चलन कैसे बदलते हैं ! जिसने हमें विश्व के साहित्यिक नक्शे पर प्रतिष्ठित किया था, उसे ख़ुद अपना स्थान निर्धारित करने में कठिन संघर्ष का सामना करना पड़ा। जिस आलोचनात्मकप्रज्ञाहीन उत्साह से एक दिन उन्हें सिर-आँखों पर बिठाया गया था, प्रायः वैसी ही आलोचनात्मक प्रज्ञान्धता से आज उनमें दोष भी देखे जा रहे हैं। इन दो अतिरेकों के बीच रवीन्द्रनाथ कहीं नहीं हैं। अनुवाद में रवीन्द्रनाथ का सही अक्स उतरता नहीं। बंगाल के बाहर कितने हैं, जिन्होंने उन्हें मूल में पढ़ा है ? क्या वे अँगरेज़ी-अनुवादों से कभी सन्तुष्ट हो पाएँगे ? अनुवाद के घेरे में रवीन्द्रनाथ बहुत सारे प्रश्न उठाते हैं। उनके अपने अनुवाद भी, जिनकी कभी धूम थी, दोषमुक्त नहीं हैं। आर. के. दासगुप्त ठीक ही कहते हैं कि अब तक कोई बंगाली आलोचक बाहरवालों के लिए रवीन्द्रनाथ की ठीक-ठाक आश्वस्तिकर तस्वीर उकेर पाने में समर्थ नहीं हुआ। आश्चर्य नहीं कि किंवदन्तियों – विवादों-मिथकों के घेरे में– रवीन्द्रनाथ घिर गये हैं। "क्या रवीन्द्रनाथ सचमुच महाकवि थे ?" अभी-अभी एक अकादमिक आलोचक ने यह प्रश्न उठाया है। प्रश्न में ही इसका उत्तर संकुलित था। बेहतर अनुवाद के प्रयत्न ही इस प्रश्न का आंशिक समाधान है। पैंग्विन द्वारा 1985 में प्रकाशित 'प्रतिनिधि रचनाएँ' के अनुवादक, विलियम रादीचि बधाई के पात्र अवश्य हैं। यह ठीक है कि इन अनुवादों पर ख़ास तरह का रादीचीय रंग हावी है, पर चयन, छन्द-प्रवाह आदि की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ-समेत सारे भारतीय अनुवादकों के अनुवादों से यह कहीं अधिक पठनीय है। इसका प्रभाव जमेगा ज़रूर, पर रवीन्द्रनाथ के पुनरुद्धार में यह कितनी बड़ी भूमिका अदा करेगा, यह अभी देखना है।

रवीन्द्रनाथ दो हैं : एक अंग्रेज़ी के, दूसरे – काफ़ी भिन्न तौर पर बाङ्ला के। यह घालमेल नोबेल पुरस्कार के पहले से शुरू हुआ, उनके कभी के गुरुस्वरूप विलियम बटलर येट्स के समय से ! 'गीतांजलि' ने उन्हें अंतरतम तक मथ डाला था। येट्स को मिथकों की सृष्टि प्रिय थी ही, उन्होंने पुस्तक के इर्द-गिर्द एक मिथकीय कुहेलिका खड़ी कर दी। उन्हें लगा कि कवि की प्रतिभा भारत की

काव्य-परम्परा की देन है और कवि अपनी जड़ों से गहरे जुड़े हैं। दोनों ही बातें ग़लत थीं। येट्स ने उनकी तुलना सन्तों से की है, छान-बीन से यह बात सही ठहरती नहीं। सिर से पाँव तक बंगाली होने और राष्ट्रीय जीवन में अपनी चतुर्दिक् भागीदारी के बावजूद रवीन्द्रनाथ थे एकाकी व्यक्ति। राष्ट्रीय फ़ॉर्मूले और खाँचे उनकी सही व्याख्या कर पाने में असमर्थ हैं। एक तीक्ष्ण द्रष्टा ने उन्हें 'पश्चिम का दाय' बताया है। भारतीय परम्परा के कवियों से अधिक उनका स्वर पश्चिम के रोमांटिक कवियों के निकट पड़ता है। सूफ़ी वैष्णव बाउलों से उनका तादात्म्य भी वास्तविक से अधिक रूमानी ही है। पर उनके व्यक्तित्व का जादू ही कुछ ऐसा था कि पुराने दिनों के औसत मन अब भी इस प्रभाव से बाहर नहीं आए हैं। रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुव्यापी और अक्षुण्ण है, पर उन्हें समझा कितना गया है ? क्या कोई वहाँ से शुरू हुआ है जहाँ से वे शुरू हुए या जहाँ उन्होंने कविता को पहुँचाया ? उनकी कारयित्री क्षमता आद्यन्त एक पहेली, एक चुनौती है।

उनका समीचीन मूल्यांकन अभी तक नहीं हुआ – कोई सन्तुलित दृष्टिकोण सामने आया ही नहीं। उनके कोई दो आलोचक कभी एकमत नहीं हुए। परिपक्व वे धीरे-धीरे हुए, पर अप्रतिम तो थे ही – उनके विकास का तर्क समझना इतना आसान भी नहीं है। उनके आरम्भिक जीवन पर अपने एक संक्षिप्त किंतु महत्त्वपूर्ण निबन्ध में ब्रजेन्द्रनाथ सील ने इंगित किया है कि ज़्यादातर कविताएँ नाव पर पाल से सम्बन्धित हैं, जैसी कि रोमैण्टिक कवियों की हो सकती हैं। विरोधी धाराओं, तनावों और विरोधाभासों का महाजाल एक अविश्वसनीय ढंग के सक्षम शब्द-कौशल से ढँका पड़ा है। उनके आन्तरिक जीवन के महानाटक का इससे आभास ही नहीं मिलता। पर ध्यान से देखा जाए तो शायद ही कोई कवि इतना विखण्डित, पीड़ित और परिवर्तनशील होगा जितना रवीन्द्रनाथ ! शान्तिनिकेतन के कवि के पास शान्ति भूलकर भी नहीं फटकी। सदा एक प्रेरक सन्देश लिये प्रस्तुत संन्यासी का बिम्ब भ्रामक है। छद्म-ग्राम्य परिवेश, स्त्रियोचित बिम्ब, गान-भरी बरसाती दोपहरें, शान्ति और एकान्त – सिर्फ़ यही उनकी कविता से एकाकार नहीं; जनजीवन का दैनंदिन यथार्थ, सूक्ष्म आलोचना क्षमता आदि भी उनके सहज साध्य थे। उनकी कविता 'क्षेपा' (पागल) में विक्षिप्त व्यक्ति के लिए सहानुभूति के स्वर हैं, पर उनमें सांसारिक बुद्धिवाद भी है। स्वर्ग की नर्तकी 'उर्वशी' को पत्नी और माता–सुलभ सहज सुखों से विरत दिखाया गया है। इस सौन्दर्यवादी को सौन्दर्यवाद की सीमाओं का ज्ञान है। उनकी इन स्वीकारोक्तियों को शब्दशः नहीं लिया जा सकता कि उनकी विफलता दोहरी थी : एक तो वे 'कवियों के कवि' नहीं हो सके (जन्मदिन, संख्या – 10) और दूसरे यह कि अपनी पहचान उन्हें नहीं हो सकी। (शेष लेखा, संख्या 13) उनकी ये कविताएँ विफलता की चर्चा ज़रूर करती हैं, पर खुद विफल नहीं। जीवन के शुरू के दिनों में ही 'मुझे अब वापस जाने दो' आदि में उन्होंने कल्पना

से विदा लेनी चाही थी ("छलिया, विदा।") और सामाजिक दायित्वों के प्रति समर्पित कार्यकर्त्ता का जीवन जीना चाहा था। ये वही तो थे जो हमेशा गाते रहे : "मेरा जीवन मत विफल करो, तुम गाकर केवल कोमल गान!" मृदुता के भीतर का परुषतर रवीन्द्रनाथ अभी अन्वेषित होना शेष है ! जिन्होंने बाद की रचनाएँ पढ़ी हैं, उन्हें ही इसकी कुछ पहचान है। अपने अस्तित्ववादी या सामाजिक निबंधों में भी रवीन्द्रनाथ सृजनशील हो सकते थे ! शायद ही किसी और कवि ने अपनी विफलताएँ इस प्रकार सफलतापूर्वक साधीं ! रवीन्द्रनाथ के नये, भिन्न और सम्पूर्ण बिम्बोद्‌घाटन का समय शायद अब ही आया है।

रवीन्द्रनाथ की कविता इतनी व्यापक, भिन्न रसबोधी और प्रचुर है कि उसे सीधे-सादे खाँचों में बैठा पाना सहज नहीं, फिर भी यत्न तो हुए ही हैं। नीहाररंजन राय नामक एक इतिहासकार ने ज़रा और आगे बढ़कर उनकी कविता के छः चरण घोषित किए : आरम्भिक प्रस्फुटन (1872–88), परिपक्व फल (1888–1900), नैवेद्य के फल (1901–1913), नीड़ और आकाश (1914–1925), नये फूल-फल (1926–37) तथा सूर्यास्त की आभा (1937–4)। कम-से-कम दो बार तो इस रूपक का तार टूटता ही है। जब यही आलोचक कहता है कि 'सान्ध्य संगीत' (1882) परिपक्व रचना है, तो हँसकर टाल जाना पड़ता है।

शरीर और आत्मा, धरती और आकाश, इतिहास और रोमांस, करुणा और प्रतिरोध के सहज तनावों से गुज़रते हुए कवि रह-रहकर अपना स्वर और तकनीक बदलते रहे। अपने एक युवक मित्र को उन्होंनें लिखा था कि उनका अंतःकरण एक रणभूमि है। 'शांति-पारावार' की बात भी उन्होंने, अपनी अन्तिम दिनों की रचना में की है पर इस पारावादर के अपने ज्वार-भाटे भी थे ! लोग उन्हें पिंजरे की सुकुमार चिंड़िया समझते हैं। इक़बाल ने उन्हें 'बुलबुल' कहा था, पर इस बुलबुल के पास गरुड़ के पंखों जैसा प्रभाव था। उनकी कविताओं की सिर्फ़ सतह मसृण है। उनका अंतःस्थल त्रास और क्लेश का पारावार है और उनकी सरलता भ्रामक। 'गीतांजलि' की करुणा के पीछे भी आत्मविश्लेषण की गहरी पीड़ा है। सामाजिक और धार्मिक आलोचना-प्रवण कविताएँ (संख्या–10 तथा 73) दृष्टि से ओझल नहीं हो सकतीं। रोमाण्टिक कवियों की तरह रवीन्द्रनाथ भी बहुतेरे तेवरों और मुद्राओंवाले कवि थे। इन मुद्राओं और मुखौटों के पार कवि को पहचानना खुद कवि के लिए दुःसाध्य था।

एक ठंडी, तिथिमूलक, विस्तारवादी आलोचना के स्थान पर हम उनके 'उत्कृष्टतम' की व्याख्या को अपना अभीष्ट रखेंगे। एक शिखर से दूसरे के बीच के विरोधों का अध्ययन इनके दर्शन का विकास रेखांकित करेगा। सैद्धान्तिक व्याख्याओं से अधिक कारगर होगा सही उद्धरणों पर उँगली रख देना ! आलोचना

की इस निकषवादी पद्धति से लोगों को विरोध हो सकता है, पर मुझे यह सर्वथा उचित लगती है। हमारा ध्यान शिल्प से अधिक कथ्य पर होगा, यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

रवीन्द्रनाथ का केन्द्रीय भाव है– विस्मय, जिसके बारे में वे लिखते हैं :

"जीवन और प्रकाश-भरी इस दुनिया में
मेरा भी स्थान कहीं –
इस विस्मय में
गाता है मेरा हृदय,
मेरी नस-नस में

इस मधुर सृष्टि की लय उतरी।
झूले से अनन्त काल के
वन-प्रान्तर में चलते-चलते

कोमल तृण ये छूते मेरे पाँव,
चकित करते हैं पथ के उधर खड़े ये फूल।

कि कण-कण में बिखरे हैं उसके ये उपहार,

कि पथ की धूल
जगाती है मेरे ये गान !

देखा-सुना – जिया है मैंने

सत्य, पार जो
खड़ा ज्ञान के
और समय के,
वही भरा करता है मुझमें विस्मय
और वही गाता है मेरे गान।"

इसका स्वर पश्चिम के रोमाण्टिक कवियों से कहीं भिन्न नहीं ! उनकी पहली सच्ची कविता 'प्रपात-जागरण' भी एक ख़ास तरह के विश्वबोध के तहत लिखी गयी कॉस्मिक कविता है जिसका प्रवाह और विस्तार रूमानी ही है, क्लासिकल या औपनिवेशिक नहीं। उनके 'जीवन-गान' में बिछोह का स्वर अधिक है, सतर्कता कम :

"सुबह-सुबह सूरज की किरणँ
मेरे अस्तित्व की जड़ों पर, फेर गयीं अपनी उँगली,
पता नहीं – कैसे यह हुआ, मगर
जाग गया है नींद से मेरा जीवन !

उमड़ी है जलराशि –
जीवन का आवेग मेरे सँभाले कैसे सँभलेगा।
कैसे थर्राती है धरती!
टकराकर गिरती हैं चट्टानें
भीषण उत्ताप में उफनती है लहरें!

प्रेमनीर मैं तो उड़ेलूँगा
तोड़ूँगा पाषाण - कारा,
जीवन उड़ेलूँगा धरती पर,
गाऊँगा, मैं जीवन-गान,
जाऊँगा, मैं जाऊँगा, जाऊँगा।
धरती कहाँ गयी, कहाँ ?

करुणा का एक गीत गाऊँगा,
मेरा मन बेचैन –
मिल जाएगा अपने सागर में।
हो जाएगा उसमें वह तो विलीन बूँद-बूँद
तभी गान की भी होगी –
पूर्णाहुति !

यह कैसी तमसिक्त कारा –
तोड़ो – तोड़ो – तोड़ो –
चोट करो, चोट पर चोट!
कितना मीठा कलरव चिड़ियों का
कैसी है तीक्ष्ण किरण-धारा।
तोड़ूगा पाषाण-कारा।"

'बलाका' (1916) के पहले इतने आवेगमय रवीन्द्रनाथ शायद ही कभी हुए हों। तभी तो पश्चात् चिन्तन में वे इसे 'वनज' कहते हैं। 'शेष लेखा' के तेरहवें गीत से इसकी तुलना रोचक और महत्त्वपूर्ण हैं, जहाँ शान्त सन्ध्या में सागर-तट

से अस्ताचल का सूरज अन्तिम प्रश्न पूछता है –क्या वह विकास-क्रम अनिवार्य था ? नियति का चक्र यही था कि यौवन का उत्तप्त आवेग महामौन के तट पर अपनी चिर-समाधि ले ? विस्मय–बोध चुका कभी नहीं, इसने सिर्फ नयी शक्ल अख्तियार कर ली!

'मानसी' (1890) में रवीन्द्रनाथ प्रेम-कवि के रूप में उभरते हैं। प्रेम-निवेदन आधाररूप और पारम्परिक ही है : 'अनन्त प्रेम' में प्रायः समग्र जातीय चेतना के साथ वे कहते हैं : "अनन्त जन्म-जन्मान्तरों से/प्रेम मैं तुम्हें करता आया/ मंत्रमुग्ध मेरा यह मन/गूँथता-खोलता आया/जान-माल/सारी पुरातन कथाएँ ये प्रेम की/मेरा दुख ही ताज़ा करती हैं।/ दूर तलक जहाँ देखता हूँ–तुम-ही-तुम हो /आगत-विगत की/प्रीतितरल स्मृतियाँ, सब गान/एकलय हैं अपने प्रेम में" वास्तविक से अधिक प्रेम का यह आदर्श, अशरीरी रूप है। प्रीति-पात्र यहाँ व्यक्ति नहीं, आदर्श है – "मुझे प्रेम से प्रेम" प्लेटोनिष्ट शेली ने भी कहा था ! 'मेघदूत' का लम्बा सम्बोधन भी इसका गवाह है, कविता का अन्त ऐसे होता है कि हवा कराह रही है, और कवि पूछ रहा है :

"यह किसका अभिशाप हमें है ? यह दूरी क्यों ?
क्यों ऊँचा अभीष्ट ? कलपने की ख़ातिर ?
प्रेम को क्यों नहीं मिलती ठीक परिणति ?"

इसके उत्तर से भी वह अनजान नहीं :

"सिर्फ़ देह हमको थोड़े ले ज़ाती है
मानसरोवर-तट की उस सुख-शय्या तक,
सूर्यहीन, पर रत्नजड़ित उस सान्ध्य जगत् तक–
पार, पहाड़ों – नदियाँ के भी पार।"

इन सबके बावजूद वर्तमान और इह–जगत् से कवि का संसर्ग टूटता नहीं ! रूप-राशि 'उर्वशी' को निवेदित अपने विशिष्ट गान में, रवीन्द्रनाथ सामान्य जीवन से उसके विलगाव को ही सबसे पहले दृष्टि-पथ पर रखते हैं ! यह मिथकीय कामिनी न माँ है, न बेटी, न पत्नी ही ! इस जगत में उसकी अनुप्लब्धता जो पुराने महाकाव्यों में करुणा जगाती – "लौटूँगी नहीं, लौटूँगी नहीं" के मान से एक रूमानी बिम्ब बनाकर छोड़ देती है !

'सोनार तरी' का शीर्षक-गीत विकास का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। इसका संगीत, इसका सूक्ष्म बिम्बारोहण अभूतपूर्व है। यह हमारे सामने एक स्वतःपूर्ण अनूठे

लोक की सृष्टि करता है। बस इसकी अर्थसम्मत समुचित व्याख्या ही टेढ़ी खीर है। रवीन्द्रनाथ ने इसे 'अल्पाख्येय' बताकर बात और उलझा दी :

"घोर घन-घटा, बारिश झरझर,
मैं उदास, एकाकी तट पर
कटा धरा है धान
कि पागल लहरों का उत्ताप भयंकर !
छोटा यह धनखेत, अकेला मैं –
यह पानी घहर-महर-घर।
तट के पेड़ों की छायाएँ स्याह घनी हैं
और झुटपुटे के रंग बस्ती रँगी-धरी है,
छोटा यह धनखेत, अकेला मैं

तट तक गाता बढ़ता आया यह, पर, कौन ?
परिचित मेरा ? पाल पसारे, देख रहा है आगे मौन ?
विवश टूटती हैं लहरें नौका के दोनों ओर,
लगता है यह चेहरा जाना-पहचाना-सा, और
पूछता हूँ कि आख़िर जाना है किस ठौर !
रोको नाव, कि तट तक आओ,
जाओ जहाँ तुम्हें जाना है,
और लुटाओ सब-कुछ मर्जी जहाँ तुम्हारी,
लेकिन तट पर आओ
सस्मित लेते जाओ धान,
ये मेरा धान !
ढो लो, जितना तुम ढो पाओ ...
धान और है ? नहीं-नहीं तो !
डाल दिया है मैंने सारा,
किया समर्पित सब-कुछ अपना
परत-दर-परत
इसी नदी को,
मुझको भी ले जाओ अपने संग !

जगह नहीं है, जगह नहीं है,
छोटी-सी तो यह नौका है,
सोने से यह भरी हुई है।

जगह कहाँ है ?
वर्षाकुल नभ में बादल ये भटक रहे हैं,
मैं एकाकी भटकूँ तट पर
सोने की यह नाव ले गयी मेरा सब-कुछ।"

यह कविता किसी नीति-कथा-सी दीखती है, पर इसकी कुंजी अदृश्य है! 'कुब्ला खाँ' से थोड़ा ही कम जटिल इसका प्रतीक है ! क्षणविशेष, मनःस्थितिविशेष रवीन्द्रनाथ के हाथों अमर हो गयी है, बिना ताम-झाम के सहज प्रस्फुटित होकर एक दर्शन सामने आता है। आत्मसमर्पण में ही परिपूर्ति का सुख ! पर आत्मसमर्पण किसे ? क्या ईश्वर को ? एक आप्लावनकारी करुणा कविता पढ़कर सहज घिर आती है।

सिर्फ़ गीति-काव्य ही नहीं, 'शिशु', आदर्शोन्मुख सिक्ख गल्पों पर आधारित 'कथा और कहानी' आदि के चुस्त कथा-काव्य भी अभूतपूर्व हैं। सिक्ख शहीद बंदा की कहानी उस क्रूर रानी की कहानी के पार्श्व में डाली गयी है जो एक सुबह उठकर सिर्फ़ इसलिए ग़रीबों के झोंपड़े जला डालती है कि उसे सर्दी कुछ कम लगे; या उस नर्त्तकी की कहानी जो बुद्ध-विरोधी राजा द्वारा बुद्ध-पूजा निषिद्ध होने के बावजूद उनकी पूजा-अर्चना करती है। ये उन्हें सिद्धहस्त कलाकार के रूप में सामने लाती हैं। बच्चों में भी ये कथाएँ उतनी ही लोकप्रिय हैं, यह और बड़ी बात है। 'देवतार ग्रास' तथा 'दू बीघा जमीन' नाटकीय कथा-शिल्प के उल्लेख्य उदाहरण हैं। गद्यकाव्यों में कम-से-कम एक ('फाँकी') लोककथात्मक है। 'पलातक' (भगोड़ा) मध्यवर्गीय नीति पर तीक्ष्ण व्यंग्य है, और सारी सहानुभूति उस मंजुलिका के साथ है जो विधुर पिता को अपने से बहुत छोटी लड़की से ब्याह को प्रस्तुत पाकर पुलिन के साथ भाग जाती है। यदि रोमांटिक व्यक्ति सामाजिक कुरीतियों का भी पर्दाफ़ाश करे तो उसका रोमांटिक जन्म अकारथ नहीं ! 'कीनू ग्वालेर गली' में कुँआरा किरानी नायक हरिपद रेडियो-संगीत में निमग्न होकर बादशाह अकबर से स्वयं को एकाकार समझने लगता है और सपनों की दुनिया में उसे लगता है कि :

"सच है संगीत
मेरे परिणय की शाश्वत गोधूलि में
बहती है ढलेश्वरी नदी,
तमाल पेड़ों की घनी-घनी छाया है तट पर,
देहली पर मेरी प्रतीक्षा में विकल खड़ी वह
ढाका-साड़ी में,
तिलकित सिन्दूर से।"

'क्षणिका' (1901) में रवीन्द्रनाथ फिर प्रकृतिपूजक, सम्वेदनातरल हो जाते हैं। सावन में मोरों के साथ नाचती बालिका के साथ उनका हृदय एकरूप है :

"आज मोर-सा नाचे मेरा मन, नाचे-नाचे ...
वन की नयी घास ...
कुसुमित है साथ-साथ –
        मेरा मन और ये कदम्ब के फूल
अपने नीलांचल से मेरे नैन भिंगोए काली बदली
तैर रही-सी ऊँचे घर की छत पर
        खोले केश,
        खोले केश ....
अपना नील दुकूल खींचकर वक्षस्थल पर
कौन हरित परिधानों में बैठी है
बेंतों के झुरमुट में ?
और कौन उस बकुल-डाल पर झूल रही एकाकी,
फूल झड़े हैं वक्षस्थल पर,
                आँचल उड़ता,
उड़ते केश नयन पर ....
        ऊपर नीचे झूल रही है बकुल डाल पर
कौन खे रहा है उसकी वह नाव,
        जहाँ केतकी फूली ?
साड़ी के ढीले बंधों पर एकत्र शैवाल,
अश्रु–तरल थे मेघगीत
        छूते मेरे मन-प्राण ?
कौन चला आता है तब से
        जहाँ केतकी फूली ?"

अब इसे परानुभूति कहिए या पैथेटिक फैलेसी, रवीन्द्रनाथ का वर्षा को निवेदित सम्बोधिगीत कीट्स और कालिदास के प्रकृति गीतों से कम नहीं। यहाँ रावीन्द्रिक रासलीला के दर्शन होते हैं। तात्कालिक और सार्वभौम में ऐसी तल्लीनता, वैसे, हर जगह नहीं दीखती। एकरस, अंतर्निहित, अनमनीय बेचैनी, उस पार का आह्वान, अदृश्य अजात के लिए एक अदम्य पिपासा, गति-प्रगति की पूजा – 'बलाका' की बहुतेरी कविताओं में है। झेलम के ऊपर से उड़ती हंसों की टोली को लक्ष्य कर रवीन्द्रनाथ लिखते हैं :

साँझ के छुटपुटे में
झरना पहाड़ी का
फूटता है जैसे शमशीर –
पंछियों का झुण्ड एक उड़ता है सिर पर से,
तारों के बीच से तीर के जैसे
हँसते हुए पंख!
अचल के भी मन में तब जगती है
उद्दाम इच्छा
गति की,
और पहाड़ की छाती में
तड़प तूफ़ानी बादल की !
जड़ों की ज़ंजीर तोड़ फेंकना चाहते हैं पेड़,
पंछियों की उड़ान उठाती है शान्ति का घूँघट
और दिखाती है मुझको हलचल
गहन चुप्पी के भीतर की।
जंगलों–पहाड़ों को मैं देखता हूँ उड़ता
पार समय के
और घिरते हुए तम को – तारों के उड़ जाने पर !
भीतर मैं महसूस करता हूँ आहट
सागर के पार उड़ी जाती इन चिड़ियों की –
जीवन के पार, पार मौत के
उड़ी चली जाती इन चिड़ियों का
अनगिन कलरव
वहाँ नहीं, नहीं यहाँ,
दूरस्थ के उर में।"

यह विरोधाभास ही है कि धरती के लिए कवि के मन में यही वेदना है : "अनन्त सम्पदा तुम्हारी नहीं है/श्यामली, धीरा धरती माँ/देखा है मैंने कोमल यह चेहरा तुम्हारा और तुम्हारी यह शोकाकुल धूल, माँ धरती।" अनन्त पथ और इस पथ के पथिक तक लौटने में भी कवि को अधिक देर नहीं लगती ! ऐसा लगता है कि इनके भीतर दो आत्माएँ धड़क रही हैं। पारम्परिक और सामान्य से वे पूरी तरह कभी समंजित नहीं रहे – हमेशा ही अदृश्य और अमूर्त के प्रति इनका आकर्षण रहा। क्या यह संस्कृति–नायक असंस्कृति–नायक था–कुछ नया ढूँढ़ निकालना ही जिसकी मूल विकलता हो ?

"मैं बेचैन, मुझमें प्यास सुदूर की,
धुँधली दूरी छूने बढ़े चले जाते हैं मेरे हाथ,
अगम बाँसुरी की पुकारती तान !
जाता हूँ मैं भूल कि मेरे पंख नहीं हैं,
बँधा हुआ हूँ धरती से –
जगा हुआ, उत्सुक अनजान, अनजानी दुनिया में !
आती है मेरी साँसें ले आहट मेरी इस आशा की –
अघट घटेगा कुछ तो !
हृदय से प्रतिबद्ध है मेरा स्वर।
अगम, दूर की तान !
भूलता हूँ, राह, मुझको है नहीं जो ज्ञान !
न ही मेरा कोई पंखोंवाला अश्व महान।
प्रेमविह्वल इस धुँधलके में उतरती धूप,
और नभ में तुम्हारे ही स्वप्न का संधान,
पूर्व सीमा, बाँसुरी ही सहज मीठी तान,
भूलता हूँ बन्द हैं द्वार उसके
जो कभी मेरा ही था वितान !

ऐसे व्यक्ति को अधिकार था कि वह असीम का संगीत ससीम रूपों में व्यक्त करें। यह रोमांटिसिज़्म का ही आधुनिक भारतीय बाना था। बाँसुरी के वैष्णव रूपक का रवीन्द्रनाथ ने अपने ढंग से इस्तेमाल किया था। बाँसुरी यहाँ कृष्ण की नहीं, अनन्त की थी।

पर कुल मिलाकर देखा जाए तो व्यक्ति और अनन्त से अधिक रवीन्द्रनाथ प्रकृति के कवि थे ! 'प्रभात-संगीत' से लेकर 'शेष लेखा' तक एक प्रगाढ़ विस्मय–बोध उनके साथ लगा रहा। लेकिन परवर्ती कविताओं में पराभूतवाद और नीतिवाद की अंतर्धाराएँ इसमें एकलय हो जाती हैं। प्रकृति-चर्चा, कला–स्मृति, शाश्वत प्रयोजनादि की सहज प्रबुद्ध चर्चा का बहाना बन जाती है। पर जो लोग इन्द्रियजन्य अनुभूतियों का कवि रवीन्द्रनाथ को मानते हैं, उन्हें बाद के काव्य का यह चिन्तनप्रधान पक्ष बहुत भाता नहीं। 'रोगशय्या' में खुद उन्होंने अपनी क्षमताओं के ह्रास की चिन्ता प्रकट की है : "जानता हूँ, मुझे तुमने दी थी अनन्त ज्योति !/ आज आया ध्यान कि ऋण लौटाने की बेला आयी। जानता हूँ, अनिवार्य है यह पर/सान्ध्य दीपों की भी छाया भला क्यों ?" विदा-वेला वासन्ती तो हो नहीं सकती – इसकी एक उदास स्वीकृति यहाँ सुनायी देती है :

"फिर लौटा है शुभ दिन वासन्ती,
कवि के आँगन की शाखाएँ
नये जन्मदिन की टोकरियाँ भरती जातीं।
बन्द कक्ष में लेटा सबसे दूर।
व्यर्थ वर्ष यह,
मुकुलित पलाश का आमंत्रण भी व्यर्थ।
गाना चाहूँ भी वसन्त विहार तो गाऊँ कैसे –
विदा-दिवस का स्वप्न भरा है आँखों में।"

पर प्रकृति का स्पन्दन एकदम से मिट गया हो, ऐसी बात नहीं। 'पक्षी मानव' में ये कहते हैं : "क्लेश-जर्जर धरा की यह प्रार्थना सुन। वनों में गूँजें फिर से उन पाखियों का गान।" रोग-शय्या के निकट फूलदान का गुलाब उन्हें सोचने पर विवश करता है :

"सुबह जागा तो गुलाब एक
पड़ा था फूलदान में,
प्रश्न उठा –
समय-चक्र से जो भी शक्ति तुम्हें
ले आयी अन्तिम इस रूप-राशि तक,
हर मोड़ पर करती छल,
देती आघात
क्रूर, रूपहीन अधूरेपन के –
वह अन्धी है या तटस्थ ?
संसार - त्यागी संन्यासी की तरह क्या
अन्तर नहीं करती वह रूप–अरूप में ?
क्या बुद्धिवादी है सिर्फ़,
सिर्फ़ यान्त्रिक, वह
संवेदनाशून्य ?
कुछ मानते है कि रूप–अरूप
बराबर आसन पाते हैं
दरबार में सृष्टि की,
दरबान लौटाता नहीं किसी को !
कवि मैं ! इन तर्कों से दूर –
देखता विश्व को –

पूरी सरसता में,
और सहस्रों इन तारों को
दीर्घकाय, गतिवान धूप-छाया सँभालते –
अपने लय, अपने सच के
रचाव में।
घूरता हुआ यह आकाश
देख सकता हूँ मैं केवल
द्युतिमान एक किसी बड़े-से गुलाब की
खुलती पंखुड़ियों की परतें।"

तर्क से दामन बचाते-बचाते भी इस तर्क–जाल में यह दृष्टान्त फँस-सा गया है कि सौन्दर्य की रूप-रेखा पूर्व-नियोजित होती है! "सौन्दर्य ही सत्य है" –युवतर रवीन्द्रनाथ अक्सर यह उद्धरण देते थे। क्या इसका विलोम भी सच है – इसका स्पष्ट उत्तर यहाँ नहीं मिलता।

रवीन्द्रनाथ के प्रकृति-प्रेम में बच्चे समाहित थे ! बाल-मन को नियेदित इनकी कविताएँ प्रौढ़-साहित्य की भी महती उपलब्धि हैं। आज 'शिशु' के पाठक बहुत न भी हों, तो भी काफ़ी हैं और जो हैं, उनकी सम्वेदना का धरातल बहुत ऊँचा है। इन दो उदाहरणों में पहला कोमल है, दूसरा हास्य एवं लालित्यपूर्ण ! पहले में मातृहीन बालक रवीन्द्र की शुद्धतम प्रांजलतम शब्दावलि में कहता है :

"मुझे माँ की याद नहीं है,
लेकिन कभी-कभी
होता है ऐसा
कि मेरे खिलौनों पर
झुक आती है
मीठी-सी एक कोई धुन
उस लोरी की
जो कि वह
पालना झुलाती हुई गाती थी !
मुझे माँ की याद नहीं है
लेकिन शरद की सुबह
हरसिंगार की गन्ध
या गन्ध मन्दिर की आरती की,
जब तैरकर आती है मुझ तक –

वह गन्ध होती है माँ की।
मुझे माँ की याद नहीं है, लेकिन
बिस्तर से बाहर आकाश में
देखता हूँ जब –
मेरे चेहरे पर माँ की दृष्टि
जड़ी हुई महसूस होती है
निस्तब्धता से नभ की।"

बच्चे इतने स्मृतितरल, स्निग्ध संयोजन में बात नहीं करते। रवीन्द्रनाथ के अपने व्यक्तित्व की छाप यहाँ अमिट है। दूसरी कविता 'वीर पुरुष' की सम्वेदना बाल-मन के अधिक निकट है। यहाँ बच्चा माँ को डाकुओं के गिरोह से छुड़ाता है; पालकी में बैठी माँ बच्चे को मना करती है कि उन डाकुओं के मुँह न लगे, पर वह बराबरी में मुक़ाबला करता है। माँ बेचारी सोचती है कि बच्चा नहीं रहा और तभी –

'रक्त-सिंचित मैं लुढ़का,
पसीने से नहाया हुआ –
हुई खतम लड़ाई,
–'बाहर आ जा माँ,
मुझे प्यार कर, दे दे चुम्मू।'
'धन्य भाग मेरे बेटे, कि
मेरे साथ चला आया तू।'

बाद की कविताओं में बच्चा प्रतीक बन गया – नवजीवन के आवेग का। 'नवजातक' के नायक का सम्बोधन अधिक सतर्क है, क्योंकि पृष्ठभूमि संकट की है –

पथ पर तुम्हारे
आँखें बिछाये
खड़ा नवयुग –
सन्देश क्या लाए हो, बोलो !
बालक ही लाते हैं बार-बार
आश्वासन मधु का।

आरम्भिक कविताओं की तुलना में विपदा का यह एकालाप कम ठोस है। नवजीवन के इर्द-गिर्द घूमता चिन्तन लगती है यह कविता ! बच्चा नवजीवन का

प्रतीक है, पर मृत्यु के बिना जन्म सम्भव है क्या ? अँगरेज़ी में लिखी रवीन्द्रनाथ की एकमात्र कविता 'द चाइल्ड' में इतिहास का पूरा परिदृश्य नरक के रूप में चित्रित है। जो सोचते हैं कि रवीन्द्रनाथ का जीवन झंझावातों से अछूता था, कविता का प्रारम्भ उनके लिए आश्चर्यकारी होगा :

"रात का क्या, पूछते हैं वे !
उत्तर नहीं कोई।
आकस्मिक झंझाएँ जगतीं गगन में ...
एक चकित-सा कम्पन जीवन में, मन में
शोर - थकित भय के भीतर-भीतर
गुपचुप घुमड़ती है
बुदबुद ज्वालामुखियों की –
अफ़वाह है, आरोप, मतिभ्रम, फूत्कार।
एकत्र जन ऐसे लगते हैं धूमिल ज्यों
महाकाव्य के बिखरे पन्ने।
एक अकेले या युगलबद्ध वे
बढ़ते टटोलते हूए –
उनकी मशालें चमकती हैं उनके ही मुँह पर
आड़ी-तिरछी रेखाएँ जिनकी कँपती हैं थरथर।
भूधर से भूधर तक
अन्धा बस स्वार्थ-समर।
रोती है विधवाएँ, शोकाकुल माताएँ
छाती पर पत्थर धर।
या फिर वे करती हैं पागल-सा अट्टहास –
बेकार है सब-कुछ,
सब-कुछ अस्थिर।"

पर इस कविता के आरम्भ का यह गहरा नैराश्यबोध इस कविता के अन्त से कहीं अधिक आश्वस्ति देता है, जहाँ माँ कुटिया में शिशु को गोद-लिए बैठी है और पूरा जनसमुदाय उसकी प्रशस्ति में गीत गाये जा रहा है।

और 'गीतांजलि' – संदर्भ के बग़ैर तो सारी काव्य-चर्चा की अधूरी रहेगी। अब 'गीतांजलि' विषयक संलाप थम-सा गया है। इसके कई कारणों में पहला यह है कि 'गीतांजलि' का अँगरेज़ी संस्करण मूलकृति से भिन्न है। यह सही है कि मूल की कई कविताएँ इसमें हैं, पर कुछ कविताएँ अन्य स्रोतों से भी आयी हैं और

कुछ अलग रूप में, जैसे 'जहाँ निर्भय मन हमारा, ऊँचा मस्तक' शीर्षक कविता, जिसे हाल की यात्रा में पोप तक ने उद्धृत किया है। दूसरा कारण यह है कि रवीन्द्रनाथ के अपने अनुवादों से सब असन्तोष व्यक्त करते हैं ; तीसरा कारण यह हो सकता है कि रूढ़ अर्थ के सिवा भी 'गीतांजलि' में अर्थ की कई परतें हैं। विरह-कातर करुणा, कोमलता रवीन्द्रनाथ का केन्द्रीय स्वर नहीं है। कुल मिलाकर संग्रह अच्छा प्रभाव छोड़ता है।

कुछ सवालों का निबटारा हम अभी कर लें : रवि बाबू रहस्यवादी हैं कि धार्मिक? किस सीमा तक वे लोक-कवि हैं ? रवीन्द्रनाथ अर्द्धरहस्यवादी रूमानी कवि हैं – धार्मिक से अधिक रूमानी। दान्ते, तुलसीदास या रामप्रसाद के-से अर्थ में रूमानी तो वे नहीं हैं, पर इसका अर्थ यह भी नहीं लगाया जा सकता कि रहस्यवादी एकात्मता इनमें है ही नहीं :

"वही जीवन-धार जो बहती है मुझमें रात-दिन
बहती जगत में, नाचती लयलीन,
चटकी धरा-तल से कोंपलों में, पत्तियों में,
ज्वार-भाटे में, जनम में, मृत्यु में भी
झुलाती है समुन्दर के पालने।
इसी के स्पर्श से खिलते हैं मेरे अंग,
झंकृति से युगों की है जागता अभिमान मेरा –
झंकृति, जो नाचती है रक्त में मेरे।"

जीवन-लय से यह एकात्मता श्रद्धाशून्य नहीं है। रवीन्द्रनाथ की विशिष्टता यह है कि अन्य रूमानी कवियों की तरह उनका अभीष्ट मिलन नहीं, सतत विरह ही है, सतत प्रतीक्षा, अभंग कामना-दहन : "मैं आया था गाने जो भी गाान/अभी तक गाया नहीं गया। ... मिलने की आशा तो है पर मिलन कहाँ है ?" अव्यक्त की छाया लगातार उनके काव्य पर है; बाद की एक जन्मदिन-विषयक कविता में हम उन्हें कहते हुए पाते हैं : "अव्यक्त की लहरें हैं हर ओर।" 'उर्वशी' हो, 'मेघदूत', भाभी को निवेदित 'छवि', विक्टोरिया ओकाम्पो को निवेदित 'पूर्वी' या नृत्य-नाटिकाएँ – जोर विरह पर है : "तुम्हारे होने की है हल्की ही-सी गन्ध एक।" कल्पना हो या जल्पना – हल्की कुहेलिका लगातार छायी है, दूर की वंशी का प्रसंग है, हालाँकि वैष्णव गीत-परम्परा की वंशी यह नहीं, एक सौन्दर्यनिष्ठ आत्मा की वंशी है। वैष्णव पदावलियों का रवीन्द्रनाथ की आरम्भिक 'भानुसिंहेर पदावलि' तक ही हल्का प्रभाव नज़र आता है, औपनिषदिक रचनाओं में भी प्रयाण काफ़ी हैं। रवीन्द्रनाथ की व्यक्तिचेतना परम्परा से कहीं आगे थी।

'गीतांजलि' की गंगा-जमुनी धार में कई लहरें हैं। मध्ययुगीन कवियों की परम्परा की सामाजिक और धार्मिक आलोचना का स्वर भी इसमें है। धर्म समाज से विमुख नहीं कर देता, बल्कि व्यक्ति में एक ख़ास तरह का सात्विक आक्रोश भर देता है। इस भाषण-भंगिमा की ख़ासी पड़ताल भी होनी चाहिए। उदाहरणस्वरूप :

"भजन-कीर्तन - कंठीमाला – सब बेकार !
किसे पूजते हो अँधियारे मन्दिर में तुम
बन्द किए सब द्वार!
खोलो आँखें – देखो – ईश तुम्हारे
पास नहीं है –
कृषक जहाँ खेती करते हैं – ईश वहाँ है,
पत्थर तोड़ा करते राह बनानेवाले जहाँ,
वहाँ है ईश !
धूप में, बरसात में भी
सहज उनके साथ रहते,
धूल-धूसर वस्त्र हैं भगवान के।
चोंगे उतार आओ,
ध्यान-जोग, धूप-अगरु –
सब छोड़ - छाड़ आओ –
धूल में मिलेंगे वे, भाल के पसीने में।"

यह तो काफ़ी सीधा है, इससे सूक्ष्मतर अभिव्यक्ति यहाँ मिलती है :

"यहाँ है पूजा की वेदी और पाँव हैं तुम्हारे वहाँ
जहाँ निर्धन–असहाय–थकित,
अर्चा मेरी तुम तक पहुँचती नहीं।
निर्धन – असहाय – थकित-से परिधानों में तुम जो घूम रहे –
पाँव अहंकार के पहुँचेंगे तुम तक कहाँ,
राह नहीं मिलती मन की –
कैसे पहुँचे आख़िर वहाँ जहाँ
मित्रहीन के मीत, तुम रहते
निर्धन–असहाय से एकसार।"

यहाँ विनय तो है, अनास्था नहीं। 'गीतांजलि' की कविता (संख्या 13, 'नैवेद्य')

में अभंग आस्था का अपना आदर्श एक जाने-माने कवि को रवीन्द्रनाथ निवेदित करते हैं :

"त्याग में नहीं मुक्ति मेरी !
आलिंगन मुक्ति का
दस सहस्र बन्धनों की गोद में,
पूजा की बेदी के आगे रखूँगा मैं,
ज्योति से तुम्हारी सिंचित
दीप सहस्र
विश्व के !
कभी नहीं द्वार इन्द्रियों के मैं बन्द करूँगा,
दृष्टि-श्रवण-स्पर्श से छनता है
क्योंकि
स्वाद तुम्हारा ही।
मोह-भंग भी चमक उठेंगे
ज्योति-पुष्प में तुम्हारी
बनकर दृष्टि
और मेरी सब अभिलाषाएँ
पककर बन जाएँगी प्रेम।"

प्रतीक्षा ईश्वर की है, या प्राकृतिक मानवीय वैभव की – यह बहुत स्पष्ट नहीं होता, पर प्रतीक्षा कई गीतों का केन्द्रीय भाव है। ठीक से देखें तो ईश्वर प्रकृति से अलग भी नहीं – ऋतुओं की आत्मा, अस्तित्व का बीज है। और उसकी प्रतीक्षा का दुख भी मीठा है :

"सुना नहीं तुमने उसका पदचाप मौन !
आता है, वह देखो, देखो – आता है –
खिली धूप, सुरभित वसन्त हो तो
बारिश की काली रातों में
बिजली बादल के रथ से,
दुखानुदुख उसके ही पैरों की
आहट मेरे मन को
भर देती है
खुशियों की आभा से।"

यही रवीन्द्रनाथ का मूल-स्वर है। 'गीतांजलि' की दूसरी महत्त्वपूर्ण विषय-वस्तु है मृत्यु और विरह ! इस धारा की एक प्रतिनिधि रचना निम्नांकित है, जहाँ आह्लाद 'पीड़ा के रक्तकमल'' से ऐसा अनुस्यूत है कि पश्चिमी पाठकों को प्रतीक-ग्रहण में कठिनाई होती है :

"हर स्वर मेरे आह्लाद का एकसूत्र हो लेने दो
        अन्तिम इस गीत में –
आह्लाद जो तृण-तृण में बहता है उच्छल,
        जुड़वाँ भाई – जीवन-मृत्यु
जिसके स्पर्श से
नृत्यलीन हैं निरंतर,
आँधी से आता है जो छनकर,
पीड़ा के रक्तकमल पर
        आँसू-सा स्थिर
        बैठा जो,
        सब-कुछ अपना मिट्टी करके अबोध !
विदा की घड़ी आयी –
इतना कह लेने दो,
जो मैंने देखा, बस अनुपम था
रक्तकमल के भीतर का अमृत चखकर मैंने देखा
रक्तकमल ज्योति के समुद्र का।
अनगिन दृश्योंवाले रंग-कक्ष में
        अपनी तो भूमिका निभा ली,
        देख लिया मैंने अमूर्त को।
मेरा सर्वांग आज उसके स्पर्श से है सिंचित
जो हर स्पर्श से अतीत –
        होना हो पटाक्षेप, हो ले –
        यह चरमबिन्दु
        मेरे आनन्दातिरेक का।"

माँ के नाम अपनी अन्तिम चिट्ठी में अल्फ्रेड ओवेन ने यह कविता उद्धृत की है। रवीन्द्रनाथ के अनुवाद का भी एक अपना विशिष्ट भारतीय स्वाद है, जो अच्छा लगता है।

सारी प्रकृति-चेतना के बावजूद रवीन्द्रनाथ इतिहास और समाज से विमुख नहीं हुए। एक युवा आलोचक ने कभी कहा था कि जब पूरी दुनिया बमों के कोलाहल

से त्रस्त थी, रवीन्द्रनाथ को कोयल के गीत सुनाई देते थे। इस तरह की अपक्व टिप्पणियों का सहज खण्डन रवीन्द्रनाथ की 'अपघात' शीर्षक कविता करती है। एक नव-विवाहित अपने मित्र से अपना आह्लाद बाँट रहा है, दोनों छुट्टी मनाने गाँव आये हैं :

वन के भूल-भुलैया रस्तों पर
भाती के फूल खिल गये :
चैत की गन्ध से माते
बग़ल के जारुल-वृक्ष पर गाती है कोयल
एक थकित-ध्वस्त गीत !
तार कहीं से आता है ––
"फ़िनलैण्ड पर रूस की त्रासक बमबारी।"

बोअर-युद्ध के ज़माने में रवीन्द्रनाथ ने 'शताब्दी का सूर्यास्त' कविता में लिखा था :

"अन्तिम सूर्यास्त सदी का
पश्चिम के रक्त-धुले बादलों के बीच,
क्रोध से धमक उठी है
क्षुधित आत्मा राष्ट्र की।
क्षितिज की रक्तिम यह आभा
नहीं है तुम्हारा शान्ति विहान, हे भारत –
विनय हो किरीट तुम्हारा
और मुक्ति, मुक्ति आत्मा की !

ऐसे दृष्टिकोण का विपुल राजनीतिकरण सम्भव नहीं दीखता, पर अफ्रीका और चीन-जापान-युद्धविषयक उनकी कविताएँ भी ध्यान देने योग्य हैं। साम्राज्यवादियों की नृशंसता के प्रचुर वर्णन के बाद रवीन्द्रनाथ क्षमा-याचना करते हैं : "रुग्ण महादेश की/अस्फुट वाणी का/अन्तिम महान कथन।"

चीन-जापान-युद्ध पर केन्द्रित कविता भावोच्छवासों से एकदम ऊपर है :

युद्ध के नगाड़े बज उठे हैं,
और बुद्ध-मन्दिर की ओर
करुणा के सागर
बुद्ध से लेने को आशीष
प्रयाण करती हैं सेनाएँ,
धक् – धक् – धक्
धरती की काँप रही छाती।"

'जन-गण-मन' और 'सोनार बाङ्ला' नामक दो राष्ट्रगीतों के रचयिता युद्धादि की समस्याओं से विमुख हो भी कैसे सकते थे ? स्वदेशी आन्दोलन के समय वे प्रायः राष्ट्रकवि हो गये थे। एज़रा पाउण्ड के शब्द उधार लेकर हम कह सकते हैं कि अपने लोगों का मन गाकर उन्होंने एक राष्ट्र खड़ा कर लिया था।

पर यह भी नहीं भूला जा सकता कि इन गीतों का सिर्फ़ उत्थान राजनीतिक है, गीत पूरे-के-पूरे राजनीतिक रंग में नहीं : 'सार्थक जनम है मेरा, जनमा इसी देश में' 'इस बार तुम मेरी गंगा बनकर आए;' 'बंगाल की माटी, बंगाल का जल'; 'हो सकता है, अपने ही दें छोड़ तुम्हें' आदि गीत कोई आक्रामक तेवर अख्तियार किये बिना अपना विपुल राष्ट्र-प्रेम प्रकट करते हैं। 'सुनकर पुकार तुम्हारी आये नहीं कोई पास तो चल दो एकाकी' इसी कोटि का गीत है। महात्मा गाँधी को भले इसमें सत्याग्रह का मूल-मंत्र भले दीखा हो, दरअसल यह किसी भी स्वच्छन्द वृत्ति नायक का अमर गौरव है :

"सुनकर पुकार तुम्हारी
आये नहीं कोई पास तो क्या :
चल दो अकेले।

जो कायर हैं, छुपते हैं ओट लेकर
तुम चलो अकेले।

अरे अभागे, खोलो मन, तुम बोलो –
पगले एक-अकेले –
रेगिस्तानों में कोई साथ छोड़े
तो भी क्या है,
काँटों के पाँवों में चुभने से होता क्या है –
रक्त-सने पथ पर बढ़ लेना अकेले।
तूफ़ानी रातों में दीपक लेकर कोई खड़ा नहीं तो भी तुम
–चलो अकेले।

तड़ित-ज्योति पीड़ा की
बलने दो एकाकी
मन में,
चलते चलो – अकेले।'

उनकी कविता में तीसरा बड़ा मोड़ सन् 30 में आया। छन्दों को हर प्रकार साध लेने के बाद इतनी ही परिष्कृति से – अपने सभी प्रशंसकों को चकित करते

– वे गद्य-छन्द की ओर मुड़े। कुछ लोगों ने इसे बुढ़भस माना, कुछ ने आधुनिक कहलाने का उन्माद। दरअसल कविता को बोलचाल के क़रीब करने का यह यत्न था। कई कविताओं में रवीन्द्रनाथ ने संकेत किया है कि रोज़मर्रा के घटना-क्रम वे कविता में पिरोना चाहते थे, पर इसके उपयुक्त भाषा नहीं मिलती थी। उदाहरणार्थ, शान्तिनिकेतन के पास बहती नदी 'कोपाई' पर लिखते हुए लिखना पड़ा – "सामान्य घरों की बोली-सी उसकी वाणी"। यह कृत्रिम-सी दीखने वाली भाषा ही थी जिसके कारण रवीन्द्रनाथ की कविता, होमर की नायिका की तरह उतरकर कभी धरती पर नहीं आ सकी। शान्तिनिकेतन की कुटिया 'श्यामली' के पास काम में लीन एक मजदूरनी को निवेदित गद्य-कविता शायद इसी के परिमार्जन का यत्न हो :

"मैं बरामदे में बैठा देखता हूँ घण्टों से लगी
हुई है वह काम में। शर्म से झुका जाता है
माथा कि प्रियजनों को निवेदित इस पवित्र श्रम की
महिमा मैं पीतल की एक अधन्नी देकर ख़रीद लेता हूँ।

पृथ्वी को निवेदित अन्य गद्य-कविताएँ भी सफल नहीं कहीं जा सकतीं। भाषा तत्समनिष्ठ ही है, बस कहीं-कहीं देशज के छींटे हैं, स्वर में मंत्रों की गन्ध हैं – सामान्य जन के सामान्य क्षणों का हवाला ये शायद ही दे पाती हैं। रूमानी हैं, पर इनमें उदासीन प्रकृति उदासीन चित्त का आभास देती है। आरम्भिक कविताओं के भोले-भोले रवीन्द्रनाथ शायद इतना सोच-समझकर नहीं रच पाते :

"अस्ताचल के सूरज की
पूजावेदी पर मैं झुका खड़ा हूँ,
ऐ धरती, मेरा नैवेद्य, स्वीकार करना।
दुःसाध्य संघर्षों से मानव-जीवन पटा है।
दायें से जो प्याले भरती हो,
बायें, हाथ से तोड़ देती हो ...
टूट चुका है मेरा भ्रमजाल,
मुक्त-मन सामने खड़ा हूँ ....
ऐ तटस्थ धरती,
इसके पहले कि मैं पूरा भुला दिया जाऊँ
चरणों में अपनी श्रद्धांजलि चढ़ा लेने दो।"

धरती को निवेदित इस श्रद्धांजलि का पूरक-स्वर शून्यता को समर्पित

श्रद्धांजलियों में है : 'विलोपन की काली कंदरा' जहाँ उनकी अन्तिम बीमारी उन्हें ले गयी। 'प्रांतिक' (1937) का मृत्यु-बोध प्रबल है, सीमा के पास आती एक अस्पष्ट और टूटी-सी आवाज़ सुन पड़ती है; पहली ही कविता 'कृष्ण-अरूपता' में जिसकी स्पष्ट आहट है :

"मृत्यु-दूत धीरे-से
        और बिना पूर्व-सूचना के अँधेरे की छाती
में घुस आया, प्रभाहीन संसार, जीवन के दूरस्थ
क्षितिज पर धूल-कणों की मोटी परतें जो चढ़
आयी थीं, दुखों की अम्ल-धार से धुल गयीं।
निखिल ने रोशनी की उँगली से छुआ था
        जड़ीभूत, भीमकाय अँधेरा
प्रकाश-तम का मिलन रच गया था मन के गगन पर
        अजब-सा धुँधलका,
मिट गया आख़िर भ्रम-जाल।
प्राचीन सम्मोहन की कारा
एक क्षण में टूटा भ्रम-जाल।
पावन चेतनता की प्रथम जागृति में
नवजीवन की उमड़ी
        उन्मुक्त धार।"

यह जागरण 'प्रपात-जागरण' से कितना भिन्न है ! आत्मा की अँधेरी रात का प्रगीत समझिए या आत्मान्वेषण की लम्बी यात्रा के किसी भी पथिक की नियति। 'प्रान्तिक' की कविता का मूल अलग ही प्रभा-मण्डल है, और इनका स्थान आँका जाना अभी शेष है। 'प्रलय की शुण्डाकार मीनार' के निकट कवि की काया भले ही क्षीण हो गयी हो, उनकी काव्यद्युति क्षीण नहीं हुई। एक तरंगायित अनुहार के रूप में औपनिषदिक प्रार्थना पुनरुज्जीवित हो चुकी है :

"थकी हुई चेतना की गोधूलि में
मैंने देखा
धुँधले भाटों के बीच मेरी देह
बह रही है उठाये – भावनाओं, स्मृतियों का चकत्ता
जनम से जो मैं ढोता आया।
चित्रलिखित कोई साँवले रहस्य-सा
बाँसुरी लिये उतरा

धरती पर, पानी पर।
अनन्त श्यामलता में लीन हो लेती है मेरी देह,
छाया-सी, बिन्दु-सी।
तारक-खचित पूजावेदी के चरणों पर
अकेला खड़ा हुआ मैं –
देखता हुआ ऊपर,
जोड़े हुए हाथ रोता हूँ।
हे दाता, रोशनी छुपा ली तुमने तो क्या –
अँधियारे में दीखता है तुम्हारा यह अनुपम स्वरूप,
आत्मा,
तुममें – मुझमें अंतर्लीन
देखने दो मुझको।"

'विलोप की अँधेरी कन्दरा' में भी रवीन्द्रनाथ प्रकृति और वैदिक प्रकाश के प्रति अपना प्रेम नहीं भूलते, न ही संग्राम-विलोड़ित समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य ही। 'प्रांतिक' की अन्तिम उदास कविता संग्राम - जर्जर विश्व में चेतना के अन्तिम स्वर का अनुगान है :

"विषाक्त साँसें हर ओर छोड़ते हैं विषधर
व्यर्थ का प्रलाप दीखते हैं शान्ति-सन्देश,
आह्वान करता हूँ मैं
प्रयाण के पहले
उन सबका
दस्युओं से संग्राम की तैयारी में जो
जुटे हैं रात-दिन !"

पर यह तनाव बहुत दिन क़ायम रखना कठिन था। बाद के संग्रह – 'सेंजुती', 'आकाशप्रदीप', 'नवजातक' और 'सेनानी' – क्लान्त कविताओं से भरे हैं। सिर्फ़ 'नवजातक में नये दौर का संकेत है – विशेषकर अंतिम खण्ड की कविताओं 'रोगशय्या' 'आरोग्य', 'जन्मदिन', 'शेष लेखा' आदि में , जो मरणान्तर प्रकाशित हुआ। बुझने के पहले लौ एक बार तीव्र हो उठती है – ये कविताएँ इसी सत्य की पुनरावृत्ति है। मृत्यु के कगार पर एक नयी जीवन-दृष्टि मुकुलित हो उठी है : भय और करुणा-विगलित जीवन-दृष्टि, जो मानवता से इनके गठबन्धन को और प्रगाढ़ करती है :

"पीड़ा का यह विशाल पहिया
घूम रहा है
अखिल ब्रह्माण्ड में –
मिट्टी की काया
बही चली जाती है
आँसुओं के लाल, अविरल प्रवाह में।"

जीवन की अन्तिम साँसों तक कवि जीवन के स्पन्दन से परिपूर्ण रहे। अन्तिम दो कविताएँ जो शक्ति छीजने के कारण वे स्वयं नहीं लिख पाए, उन्होंने लिखवायीं। बिना टिप्पणी के गहरी जीवन-दृष्टि वाली ये कविताएँ प्रस्तुत हैं :

"बार-बार दुःखों की गहन रात्रि
आयी है द्वार,
कष्टों की दुःसाध्य माया ही
इसका हथियार,
भय की विरूप भंगिमाएँ
जब भी मुखौटे पर
किया है भरोसा, हार आयी हार,
जीवन का भ्रमजाल
हार-जीत का यह सब खिलवाड़,
बचपन से हर मोड़ पर, हर बार
दुःख के उपहास से है भरा हुआ संसार –
विविध रूप भय का यह चलचित्र –
मृत्यु के कुशल हाथ तम के हैं चित्रकार।"

अँधियारे के बाहर महिमान्वित शांति है। आस्था की परीक्षा हो चुकी है, छलना से साक्षात्कार साफ़-साफ़ स्वीकार कर लिया गया है :

"सृष्टि-पथ बिछा डाला है तुमने
छलना के जंजाल से,
छलिए, माया के जाल
सधे हाथों से
तुमने ही रखे हैं
सरल चित्त लोगों के पथ पर।
इस छल-बल से ही तुम बड़े बने हो क्या ?

तारे तुम्हारे क्या पथ करते हैं ज्योतित ?
मानव के अपने मन की
आस्था की प्रभा से
वह होता प्रकाशित।
ऊपर से वक्र, वह भीतर से सरलचित्त।
इसी में है गौरव उसका।
व्यर्थ कहते हैं सब उसको।
अपनी प्रभा से प्रक्षालित वह
करता है सत्यलाभ।
कुछ भी नहीं छलता उसको जब
अपना अन्तिम लेकर पुरस्कार
आ जाता है तुम्हारे द्वार।
अपने ही छल से बच लेने पर
देते हो तुम उसको अभंग शान्ति का
सहज अधिकार।"

इससे भी अधिक सादे ढंग से वे अपनी स्थिति स्पष्ट करते हैं, जो दरअसल किसी की भी स्थिति हो सकती है :

"रक्त-खचित शब्दों में लिखा देखा मैंने
अपना अस्तित्व,
आघातों – दुखों के अविरल क्रम में
पाया खुद को।
जो सच मैंने पाया दु:साध्य है,
लेकिन छलता नहीं वह।"

इस अ–रावीन्द्रिक रवीन्द्रनाथ को पहचान पाना बहुत आवश्यक है। कविता चमत्कार नहीं, सत्योद्घाटन है, आत्मान्वेषण भी। वे महाप्रयाण के लिए तैयार थे। अपना विदा-गीत लिखकर वे पार-घाट उतारने वाले नाविक से बातचीत तय कर रहे थे। उनकी और औरों की मृत्युवार्षिकी पर यह कविता अब तक गायी जाती है, हालाँकि वे मृत्यु से अधिक विधाता की रहस्यमयी प्रकृति पर चिन्तित हैं। मृत्यु के द्वार पर क्या 'गीतांजलि' के गायक की अन्तिम आस्था डिग गयी थी ? या सुखद यात्रा के नये द्वार खुले थे ? क्या शान्ति-सूत्र इन्हें महाप्रयाण के पहले सचमुच मिल गये थे ?

"शान्ति-पारावार सम्मुख,
नाव खोल, माँझी,
चिरमीत, ले गोद में।
ध्रुव-तारा चमके अनन्त पथ पर !
मुक्तिदाता, क्षमा-करुणा ही
अनन्त निधियाँ
शाश्वत यात्रा की।
मोह कटे, सृष्टि को सुख-शक्ति मिले
बाँह में उसकी।
भयमुक्त हृदय में
छवि उतरे महत् की।"

नाटक

रवीन्द्रनाथ को आधुनिक भारत के विशिष्टतम नाट्यकारों में गिना जाता, यदि उनकी काव्य-कृतियाँ उन्हें इतना प्रसिद्ध न करतीं। आधुनिक जनजीवन की समस्याओं के आलोक में 'ज़ात्रा' के लोक-तत्त्वों को संस्कृत नाटकों के घटकों के साथ पुनरुज्जीवित करके रवीन्द्रनाथ ने एक ऐसा अद्‌भुत प्रयोग किया जो बंगाल के बाहर अनसुना—अनदेखा था। अरस्तू या शेक्सपियर इन नाटकों के विश्लेषण का आधारस्तम्भ नहीं हो सकते, इनका नाभि-केन्द्र कहीं और है, जिस पर पश्चिमी आलोचकों की उँगली आज तक नहीं पड़ी। इसी कारण एकाध प्रोत्साहनमूलक पंक्तियों में उन्होंने इसका वारा-न्यारा कर डाला। एडवर्ड थॉम्सन की आलोचना में कुछ दम था, पर उनसे कवि का मनमुटाव हो गया। रवीन्द्रनाथ के नाटक अधिक सहानुभूतिशील पाठक और दर्शक की माँग करते हैं। प्रणय से ब्रह्माण्ड-चर्चा, गोचारणकाल से आधुनिकता-बोध, धार्मिक आचारों से सामाजिक प्रहसनों के भावबोध, मनोरंजन, रूमानी प्रेम आदि से शहादत आदि तक – चित्रण का फ़लक इतना बड़ा है कि कोई अंतःसूत्र ढूँढ़ना मुश्किल है। प्रकट-परोक्ष-अलग-अलग कथावस्तुओं वाले बदलते परिदृश्य व्यावसायिक रंगमचों की पहुँच से बहुत ऊपर उठे एक बहुआयामी, जटिल, विकासमान आत्मिक दृष्टि का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। 'विसर्जन', 'फाल्गुनी' और 'नटी-पूजा' आदि नाट्यरीतियों की पुनर्स्थापना ने आधुनिक रंगमंच को नया रंग दिया। आधुनिक भारतीय रंगशिल्प के आचार्य-रूप में इनकी परिगणना होती है। मोटे तौर पर आठ तरह के इनके नाटक हैं : सांगीतिक, काव्यात्मक, प्रतीक-नाट्य, गद्य-नाट्य, प्रहसन, प्रकृति-नाट्य और नृत्य-नाट्य। उनके नृत्य-नाट्य सर्वाधिक लोकप्रिय हुए, पर अन्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

'वाल्मीकि-प्रतिभा' (1881) की विशिष्टता है कि इसमें क्लासिक, लोक और यूरोपीय तत्त्वों का अद्‌भुत समागम मिलता है। वाल्मीकि के हृदय - परिवर्तन और वाणी-वरदान की कथा सरस ढंग से सुनायी गयी है। वाल्मीकि का सहज काव्य-प्रवाह लगभग उसी काल में रचित 'प्रपात-जागरण' की याद ताज़ा करा जाता है।

'काल-मृगया' (1882) भी रामायण की उस कथा की क्षीण प्रस्तुति है कि भूल से श्रवण कुमार दशरथ पर कैसे बाण चला बैठे। 'माया का खेल' (1888) कलकत्ता की एक महिला-संस्था के अनुरोध पर सिर्फ़ नारी-पात्रों के लिए संयोजित एक गीति-मालिका है, जिसमें नाट्य के तत्त्व नाम-भर ही हैं। नारी-हृदय की मसृणता का गान कथा-वस्तु के आलोक में कोमलता से प्रस्तुत कर दिया गया है : "प्रेम में संतृप्ति की तलाश करते-करते हम प्रेम और संतृप्ति–दोनों खो बैठते हैं ..." (ये शब्द कृष्णा कृपलानी के हैं) आसक्ति और विरक्ति, इह-लोक और परलोक के बीच का महाद्वंद्व, जो बाद में रवीन्द्रनाथ का मुख्य प्रतिपाद्य बना, यहाँ बीज-रूप में विद्यमान है।

थोड़े समय के लिए उनका रूझान गीति नाट्य की ओर भी हुआ। 'रुद्रचन्द' (1881) में प्रतिशोध का कथानक मेलोड्रैमेटिक दृश्यों की एक शृंखला के रूप में संयोजित है पर रवीन्द्रनाथ की नाट्य प्रतिभा को प्रकृत दिशा मिली 'प्रकृति का प्रतिशोध' नामक गद्य-पद्य और गान-मिश्रित दृश्यावली में, जिसका मूल प्रतिपाद्य वही था जो रवीन्द्रनाथ की बाद की सारी रचनाओं का – सत्य और सौन्दर्य, बुद्धि और हृदय, स्वीकार और अस्वीकार के बीच का महाद्वंद्व। एक किशोरी के प्रेम में खुद को आकण्ठमग्न पाकर संन्यासी को लगता है कि यह तो उसकी मुक्ति में बाधक होगा। वह उसे छोड़कर चला जाता है, पर उसके बग़ैर रह नहीं पाता। लौटता है तो पाता है, वह मौत की गोद में चली गयी है। अब उसे जीवन के सच्चे नैतिक मूल्यों की गहन दृष्टि मिलती है कि महत का प्रतिष्ठान लघु में है, अनन्त का नश्वर मे, शाश्वत मुक्ति का प्रेम में। आन्तरिक द्वंद्व के नाट्य-रूपान्तरण का यह पहला प्रयोग है।

"राजा और रानी" (1989) में द्वंद्व प्रेम और कर्त्तव्य के बीच है। अनेक विरोधी षड्यंत्रों, हिंसा तथा चरित्रों से अनुस्यूत यह नाटक बुनावट में जटिल है, सहज-संवेद्य नहीं। अपनी रानी की रूपासक्ति में लीन राजा विक्रमादित्य राज-काज की इतनी अवहेलना करता है कि प्रजा दर-दर का भिखारी हो जाती है और दुश्मनों की निगाह राज्य पर टिक जाती है। अपने भाई की सहायता से रानी सुमित्रा राज्य में शान्ति-सुव्यवस्था क़ायम करती है, पर इससे राजा भाई के ख़िलाफ़ ही उठ खड़ा होता है। उसे युद्ध में हराकर उसका सिर कलम करने की आज्ञा देता है। भाई का कटा हुआ सिर लेकर रानी उसके पास आती है, पर मारे सदमे के वहीं राजा के चरणों पर गिरकर मर जाती है। अतिनाटकीयता का प्रभाव यहाँ एकदम से नकारा नहीं जा सकता।

अगला नाटक, विसर्जन (1890) अधिक व्यवस्थित और प्रभावोत्पादक है। घटना-क्रम की क्षिप्रता और भाषा के स्तर पर एकालापादि के संयोजन में भी यह

विशिष्ट है। यहाँ संघर्ष के कई स्तर हैं—सांसारिक और आध्यात्मिक शासन के बीच, भाइयों और पति-पत्नी के बीच, तथा मानवता और (देवी काली के सम्मुख) पशु-बलि की नृशंसता के बीच संघर्ष। कवि के विचारों का प्रतिनिधि बनकर छोटी लड़की अपर्णा आती है, हृदय-परिवर्तन का सूत्र कोरस में है कि परम पिता उद्धार करें। पुरोहित रघुपति के रूप में स्वयं रवीन्द्रनाथ का अपना अभिनय भी तब बहुचर्चित रहा था।

धीरे-धीरे रवीन्द्रनाथ गीति-नाट्यों और परिसंवादों की ओर बढ़ रहे थे, यथार्थ और प्रतीति के दार्शनिक द्वंद्व की ओर चिन्तन से अधिक 'चित्रांगदा' (1892) नामक गीति-नाट्य अपनी जीवन्त काव्यात्मक ऊर्जा के कारण याद किया जाता रहेगा। आत्म-निग्रह के हर दर्शन के ऊपर 'अश्रु-पूरित यह वसन्त' प्रतिष्ठित है।

रवीन्द्रनाथ ने भारतीय आदि-ग्रंथों, विशेषकर 'महाभारत' से बहुत लिया है। क्लासकीय गरिमा से महिमान्वित कथानक और उसका आधुनिक भाषा में पुर्नसंस्कार अच्छा लगता है। 'विदाई-अभिशाप' (1894) में कच-देवयानी की कथा का वह अंश प्रकाशित हुआ है, जहाँ देवयानी के अनुनय-विनय और मानादि के बाद भी कच कर्त्तव्य की दुहाई देता, माफ़ी-वाफी माँगता चल देता है। उसने शुक्राचार्य से अपना मूलमंत्र ले लिया है, अब उसका यहाँ क्या काम ? देवयानी के शाप के बाद वह उसको जो खरी-खोटी सुनाता है, उसके कारण एक अंगरेज़ कवि उसको 'नपुंसक' कहते हैं।

'गान्धारी का आवेदन' (1897) में रानी से अधिक राजा के मन का द्वंद्व प्रकाशित हुआ है। 'नरक-वास' और 'सती' भी धर्म-विषयक द्वंद्वों का ही प्रस्तुतीकरण है।

'कर्ण और कुन्ती सम्वाद' में कर्ण का प्रत्युत्तर और उससे भी अधिक उसकी भंगिमाएँ करुणा और महिमा का ऐसा मणि-कांचन संयोग प्रस्तुत करती हैं कि कर्ण के लिए हम नये सिरे से श्रद्धावनत होते हैं। प्रवाह और शिल्प का कसाव यहाँ उत्कृष्ट है, प्रतीक या इन्द्रियगम्यता के कारण वह अन्य नाटकों से विशिष्ट हो – ऐसी बात नहीं।

1901 में शान्तिनिकेतन खुला, स्वदेशी-आन्दोलन से भी कवि की आत्मा विदग्ध थी, राष्ट्रीय चरित्र की नैतिक द्वंद्वों पर आधारित दो नाटिकाएँ उन्होंने लिखीं – 'मुकुट' और 'प्रायश्चित्त'। पर उनका दर्शन और दृष्टि सामान्यजन की प्रतिकृति नहीं बन सके, उन पर एक विशिष्ट रावीन्द्रिक छाप बनी रही।

'शरदोत्सव' (1908) में उनका प्रकृति-साहचर्य का दर्शन पराकाष्ठा पर है – पूरा-का-पूरा शान्तिनिकेतनीय परिवेश यहाँ मुखर है – नाच-गान, मुक्त बाल-वृंद। सिर्फ़ अन्त में आकर नाटक भारी हो जाता है। छोटे बच्चे, उपबन्द के मुँह से त्याग-बलिदान का गुरुगम्भीर दर्शन बहुत जँचता नहीं।

बाद की प्रतीक-नाटिकाएँ और भी अधिक दर्शन-बहुल हैं। 'राजा' (1910) नामक प्रतीक नाटिका विदेशों में भी लोकप्रिय एक तरह का रहस्यपूर्ण नाटक है, जिसकी मुख्य कथावस्तु है 'मानव-हृदय से ईश्वरीय ज्योति की गुपचुप मैत्री। रानी सुदर्शना राजा को उजाले में देखना चाहती है। राजा कहता है कि अतिशय प्रकाश रानी के अपने लिए अच्छा नहीं। रानी फिर भी नहीं मानती। इस पर वह चाँदनी में अपना स्वरूप उजागर करने पर राजी होता है। पूर्णिमा के दिन राजा तो प्रकाश में आता है, रानी अँधेरे में रह जाती है, और वरमाला किसी और को पहना देती है। बाद में ज्ञानोदय होता है तो वह कह उठती है : "भय का उत्कर्ष ही सौन्दर्य का उत्कर्ष है। तुम्हारा प्रेम रहता है मुझमें। मेरा सब-कुछ तुम्हारा। मेरा तो कुछ भी नहीं।" आत्मविसर्जन में ही आत्मान्वेषण का सूत्र ढूँढ़ता यह चिररहस्यवादी दर्शन है।

'अचलायतन' (1912) महापंचक और पंचक नामक दो भाइयों की कथा है। महापंचक आत्मलीन है, और पंचक की मित्रमण्डली आदिवासियों, किसानों, दलितों, अछूतों तक व्याप्त। अपनी विशाल भक्त-मण्डली के साथ सद्‌गुरु जब प्रवेश लेते हैं, 'अचायलतन' की दीवारें भहरा जाती हैं, नये समाज की नींव पड़ती है। अब महापंचक का क्या होगा (दरअसल यह कट्टरपंथी हिंदुत्व का प्रतीक है) पंचक सुझाव देता है कि दोनों भाई मिलकर घर की खिड़कियाँ खोलें। कट्टरपंथी हिंदुत्व पर आघात के कारण यह नाटक विवादास्पद बताया गया, रवीन्द्रनाथ को सफ़ाई देनी पड़ी। पर शेक्सपियर ने तो 'हैमलेट' का कोई स्पष्टीकरण प्रकाशित नहीं किया था।

'डाकघर' (1912) में बीमार बच्चा ग्राम-परिवेश के प्रमुख आकर्षण 'डाकघर' से अपने मनःसम्वाद में एक ऐसा रहस्यलोक पैदा करता है कि पूरे-के-पूरे डाकघर को प्रतीक का व्यक्तित्व मिल जाता है : "चौकीदार, घण्टा नहीं बजेगा?" "अभी समय नहीं हुआ" आदि का अर्थ-विस्तार दूर तक है। रवीन्द्रनाथ के अपने चहारदीवारियों से घिरे बचपन की आहट भी नाटक में मिल जाती है। शिल्प-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह विशिष्ट है।

'फाल्गुनी' (1916) प्रकृति के जीवनदायी स्पर्श से महमह गीतमालिका है – एक अंधा बाउल यहाँ रवीन्द्रनाथ का दर्शन संवाहक बना है। एक आलोचक ने तो इसे जंगल का संगीत कहकर सराहा है, जहाँ फूल-फूल, पत्ती-पत्ती गाती दीखती है। मगर अन्त तक आते-आते फिर दर्शन का बोझ बढ़ जाता है जब राजा के पके केश उसे यह कहने को बाधित करते है कि जैसे हर वसन्त का अन्त पतझर है, उसी प्रकार हर जीवन की परिणति मृत्यु। गान और उपदेशों का सुर-ताल आपस में मिलता नहीं।

'मुक्तधारा' और 'रक्तकरबी' अभिनेयता की दृष्टि से दुर्गम गद्य-नाट्य हैं, जिन पर राजनीति का रंग है। 'मुक्तधारा' में शिवतराई का गगनचुम्बी बाँध उत्तरकाशी पर अँधेरे साये डाल रहा है और इससे उसकी जल-पूर्ति में भी बाधा पहुँच रही है। बाँध का एक कमज़ोर स्रोत राजकुमार की पकड़ में आ जाता है। वह वहीं से बाँध तोड़ता है, और फिर उसकी मुक्तधारा में उसका अपना शरीर विसर्जित हो जाता है। यांत्रिकता का विरोध करते धनंजय वैरागी गाँधी से अधिक खुद रवीन्द्रनाथ की प्रतिच्छाया हैं।

'रक्तकरबी' में तार की जालियों के पीछे राजा छिपा है और राज्य-व्यवस्था पुलिस-प्रधान देख रहा है। आगे अधिनायकतंत्र में ज्योति की इकलौती किरण रानी नन्दिनी है। राजा की आँखें तब खुलती हैं जब वह अपनी सेना छोड़कर रानी के पास आता है, पर तब तक काफ़ी देर हो चुकी होती है। पतझर मृतप्राय व्यवस्था को सम्बोधित दीखता है, पर दूर गूँजता कटनी-गीत प्रकृति के जीवनदायी स्पर्श का संकेत है। नाटक का शिल्प और चरम – दोनों ही चरमराए हुए से हैं। गति के अभाव, क्षीण कथा-सूत्र, अपरिचित प्रतीक, अत्यधिक तात्त्विकता आदि के कारण ये नाटक जनप्रिय तो नहीं हो सके, पर इनकी प्रयोगधर्मिता प्रणम्य है।

1925 से 33 के बीच के इनके गद्य-नाट्य विकास का दूसरा चरण है, जहाँ विषयवस्तु में पर्याप्त वैविध्य है। 'गृहप्रवेश' के बीमार जतिन की बुआ उसका यह भ्रम बनाए रखती है कि गृहप्रवेश होने तक वह जीवित रहेगा। 'शोध-बोध' नलिनी और सतीश की प्रेमकथा है, और 'नटीर पूजा' बुद्ध-विरोधी परिवेश में नृत्यांगना के बुद्ध-प्रेम की साहस-कथा, जो उसे एक बलिदानी का गौरव देती है। उसके शब्दों में सादगी है, पर धार भी –

> "तो तुम नाचोगी ?"
> "हाँ, मैं नाचूँगी।"
> "तुम्हें डर-भय नहीं ?"
> "नहीं, बिल्कुल नहीं।"
> "तब तो तुम्हें कोई नहीं बचा सकता।"
> "परम पिता के सिवा कोई नहीं।"

एक रचनात्मक प्रतिरोध 'रथेर रसी' में भी है, जहाँ मानवीय सम्बन्धों की सच्चाई और सार्थकता बाधित होने के कारण रथ का पहिया ही रुका पड़ा है। यह तभी चलेगा जब छोटे-बड़े मिलकर इसे धकेलेंगे! रक्तरंजित क्रान्ति नहीं, परस्पर सहयोग – यही बेहतर जीवन का मूलमंत्र है।

'चंडालिका' की शूद्र लड़की बुद्ध के शिष्य, आनन्द के प्रेम में आबद्ध है। उसकी वारांगना माँ आनन्द को उसके पास ले आती है, पर वे इतने हततेज और उदास हैं कि उनका चेहरा देखने–मात्र से उसका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वह पछतावे की आग में जलती हुई कहती है : "कैसे हततेज वे आए मेरे द्वार! छि: छि: – मैं छोड़ूँगी यह सब ! उद्धार करो, मेरा देव। गिरने की पीड़ा अब जान गये तुम न – इसीलिए तुम्हें खींच नीचे ले आयी कि और किस उपाय से तुम मुझको ले आते ऊपर।" पश्चात्ताप की यह कथावस्तु इतनी बार रवीन्द्रनाथ में दुहरायी जाती है कि पड़ताल का मन होता है।

'ताश-घर' का रूढ़िबद्ध यान्त्रिक परिवेश 'अचलायतन' की याद दिलाता है, पर इसका केन्द्रीय स्वर व्यंग्य-विनोद है। जब बाहर के दुश्मन इसमें आ घुसते हैं, ताश का घर ही भहरा जाता है– सारे नियम–क़ायदे खुद-ब-खुद ताख पर चले जाते हैं।

रवीन्द्रनाथ की बाद की कामदियों में आदर्श का पुट कम है, मुक्त हास्य का रंग ज़्यादा। 'हास्य-कौतुक (1909), 'व्यंग्य-कौतुक' (1907), गोरे-गलद (1892) – जो बाद मैं 'शेषरक्षा' के नाम से विख्यात हुआ– आदि मैं इसे देखा जा सकता है। फिर 'वैकुण्ठ-कथा', 'वशीकरण' आदि में कथा–तत्त्व और चरित्र, इतने वैविध्यपूर्ण हैं कि 'कॉमेडी ऑफ ह्यूमर' की याद आती है।

इस दौरान लिखे गये नाटकों में सिर्फ़ 'वनश्री' अलग है, जहाँ उच्च प्रेम के आदर्श–स्थापन के लिए रावीन्द्रिक गुरु पुरन्दर 'वनश्री' से सोमशंकर का आकर्षण तोड़कर सुषमा से उसका परिणाय कराते हैं।

'चिरकुमार सभा' सम्भवतः विवेकानन्द के चिरकौमार्य के व्रत पर व्यंग्य है। अन्तिम प्रहसन 'मुक्ति का उपाय' (1938) भी त्याग-तपस्या के आदर्शों की ही खिल्ली उड़ाता है और स्त्री-तत्त्व को मुक्ति के लिए अनिवार्य मानता है।

इनके प्रकृतिपरक नाटकों मैं मिथक और यथार्थ का सम्मिलन मानव-प्रकृति समागम के 'गीतांजलि' मूलक दर्शन के आलोक में हुआ है। 'बसंत', 'शेषवर्षन' और 'श्रवण-गाथा' आदि नाटकों के भीतर गीतिमय नाटिकाएँ अनुस्यूत हैं ! 'नवीन' तथा 'नटराज : ऋतु–रंगशाला' स्थान–कालातीत स्वर्गिक गीत-नृत्य-मालिकाएँ हैं – जीवन से पलायन का हल्का आभास कराती हुई, हालाँकि 'वसन्त' में मोह और मुक्ति-काव्य के बीच का हल्का-सा विवाद परिदर्शित है।

'शापमोचन' (1931) में तो उल्लेखनीय कुछ भी नहीं है, पर अन्तिम नाट्यत्रयी – 'चित्रांगदा', 'चण्डालिका' और 'श्यामा' – गतिमूलक गीति-संवाद हैं। यहाँ गीति-सम्वाद ही कथा को आगे बढ़ाते हैं। गद्य से इनका बहाव बिलकुल भिन्न

है। नायिकाओं और दुनिया के सर्वाधिक शक्तिमान आवेग से नाटक भरे पड़े हैं, पर इनकी मसृणता विशिष्ट है। तीनों का आनन्द दूर से लुभाकर रह जाता है। अर्जुन से 'पुनर्मिलन' के बाद भी चित्रांगदा एक ख़ास तरह की उदासी से भरी रहती है। क्या विरह इससे बेहतर नहीं था ? 'चण्डालिका' अपनी मोहाविष्टता पर क्षुब्ध है और इसके भग्न हृदय को तो मिलन की कोई आशा भी नहीं है। तीनों के लिए विरेचन (केथार्सिस) का स्रोत है एक नैतिक या आध्यात्मिक दर्शन जो अप्रतिम शब्दों में व्यक्त होता है। तृप्ति के मूल में मुक्ति है और मुक्ति के मूल में विवेक। क्या प्रेम की तरह जीवन-नृत्य का भी यही दर्शन है ? अपने प्रत्यक्ष आनन्दातिरेक के पीछे इन नृत्यनाटिकाओं ने जो सच छुपा रखा है – वे आँसुओं से कहीं गहरा हैं।

उपन्यास और कहानियाँ

बंकिम या शरतचन्द्र की तरह रवीन्द्रनाथ मुख्यतः कथाकार नहीं, पर कथा-साहित्य को उन्होंने दो नये आयाम दिये—मनोवैज्ञानिक और सामाजिक। यथार्थ की उन्होंने उसे नयी पहचान दी। बंकिमचन्द्र के समय तक तो वह सिर्फ़ ऐतिहासिक रोमांस था। प्रकृति प्रेम-प्रेरित रहस्यात्मकता रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों को भी रोमांस की आभा देती है, पर सामाजिक-पारिवारिक और वैयक्तिक जीवन की अन्तरंग समस्याओं का विश्लेषण इनमें अधिक है – पश्चिमी उपन्यास इन्होंने काफ़ी पढ़े थे, इससे प्रेरित कलात्मक परिष्कृति और बुर्जुआ दर्शन इनके उपन्यासों में है।

'बहूरानी का हाट' (1883) है तो ऐतिहासिक, पर मुख्यतः यह राजा प्रतापादित्य, विभा और आदर्शवादी भाई उदया दित्य के मनोविज्ञान को ही प्रकाशित करता है। 'राजर्षि' (1887) मैं राजा गोविन्दमाणिक्य; पुरोहित रघुपति आदि का धर्म और राजधर्मादिविषयक यह द्वंद्व रेखांकित किया गया है कि क्या राजहित में भी पशुबलि उचित है ?

'आँख की किरकिरी' (चोखेर बाली, 1903) वृहत् मध्यवर्गीय परिवेश को उजागर करता है : कट्टरपंथी काकी, स्नेहशीला माँ, बिगड़ा हुआ बेटा, प्रताड़ित पत्नी और युवा विधवा, विनोदिनी। आशा-बिहारी का प्रेम-प्रसंग तो फिर भी सँभल जाता है। पर महेन्द्र-विनोदिनी की प्रेम-कथा का हश्र यह होता है कि महेन्द्र उसके पाँव छूता है और विनोदनी के अन्तिम शब्द हैं : "मुझे माफ़ कर दो, ईश्वर तुम्हारा भला करे।" रवीन्द्रनाथ ने आग तो लगायी, पर बुझा भी उतनी ही जल्दी दी।

'नौका डूबी' (1906) का भी पहला चरण तो ठीक है, जब नौका–दुर्घटनाजन्य अफरा-तफरी में रमेश और कमला, जो पति-पत्नी नहीं हैं, साथ-साथ हो लेते हैं। कमला का पल-पल परिवर्तित मन सहज-स्वाभाविक जान पड़ता है, पर पति नलिनाक्ष का पता पाते ही उसका रमेश को अचानक भूल जाना न मानवोचित है, न स्वाभाविक। नलिनाक्ष अलग कठपुतली है। वह चाहता है कि कमला माँ को फूल भेंट करे। कमला पूछती है कि वह उसे माफ़ तो कर देगी ? इस पर उसका

जवाब है कि उसने यों भी बहुत झेला है, फिर वह ऐसी भूल को भला क्यों माफ़ नहीं करेगी जो उसकी है ही नहीं। सबसे अच्छा तो हेमनलिनी का चरित्र उभरा है – सुचरिता-कुमदिनी और लावण्य के स्तर का, पर वह उपेक्षिता ही रही है।

अगला उपन्यास 'गोरा' (1909) सर्वाधिक चर्चित है – अपने विशाल फ़लक और राष्ट्रीय अस्मिता की गहरी पहचान के लिए। अनेकानेक वाद-विवादों और प्रेम-कथाओं से अनुस्यूत इस उपन्यास का प्रत्येक चरित्र किसी-न-किसी स्तर पर व्यापक विश्व-दर्शन का प्रवक्ता है। गोरा कट्टरपंथी हिन्दू है। उसे जब अपने आइरिश माता-पिता का पता चलता है तो वह हतप्रभ रह जाता है। पूरा भारतीय इतिहास ही जैसे रवीन्द्रनाथ ने 'गोरा' मैं प्रतीकित कर दिया है। अपने नये विश्वास की बौद्धिक आधारशिलाओं के लिए गोरा परेश बाबू के पास जाता है, और उसकी भावनात्मक परिपुष्टि के लिए माँ आनन्दमयी के पास ; "तुम्हीं माँ हो, तुम यहाँ घर पर बैठी थीं और तुम्हारे लिए मैंने कहाँ-कहाँ की ख़ाक नहीं छानी ! तुम्हारी कोई जाति नहीं, तुम अपने बच्चों में कोई अन्तर नहीं करतीं, हिन्दू-मुसलमान या ईसाई – तुम सब पर कृपालु हो। भारत तुम्हीं हो।" यह भावधारा उस समय की रवीन्द्र एक कविता में भी अभिव्यक्त हुई है :

"जागो, मेरे मन, जागो इस पावन तीर्थस्थल में,
भारत है यह – मानवता-सागर का तट जो।
ऊर्ध्वबाहु जयघोष कर रहा मैं देवोपम मानव का,
क्या जाने कब किस पुकार पर आर्य-द्रविड़-चीनी-मंगोल
हूण-पठान-मुग़ल
बहते आए, मिल एक बने–इस सागर में,
अब पच्छिम ने भी तो खोले दिये हैं द्वार
लेना - देना शुरू किया
इस मानवता-तट से
लौटा नहीं कभी कोई भी ख़ाली हाथ।"

'गोरा' के बाद अचानक रवीन्द्रनाथ की भाषा और धारदार और पैनी हो चली। 'चतुरंग' (1916) में ख़ास तरह का प्रतीक्षित बिखराव है, जहाँ व्यंग्यात्मक चपल शैली भावनात्मक उद्वेलनों को नियंत्रित करती-सी दीखती है। दामिनी सुन्दरी विधवा है जो गुरु लीलानन्द के आश्रम में शचीश से प्रेम कर बैठती है पर शचीश ही जब उसे गुफा से बाहर निकाल देता है तो वह चीख़ती है : "मार डालो मुझे, दया करो, मार डालो।" गुफा की दीवारों से टकराती हुई यह पुकार शचीश तक पहुँचती भी है, पर वह चुप रहता है। दामिनी का प्रेम इससे गहरा ही होता है, पर वह प्रतिशोध-पीड़ित होकर (शचीश को चिढ़ाने के लिए) श्रीविलास से ., ता

जोड़ लेती है। बाद में शचीश जब उसे अपना शिष्य बनाता है, तो उसकी भाव-भक्ति तो ठीक है, पर शचीश को अपने पर ही नियंत्रण नहीं रहता; और अपने बचाव में वह दामिनी को फिर बाहर कर देता है। बाद में श्रीविलास से ब्याह करके एक बच्चे को जन्म देती हुई दामिनी जब मरने लगती है, तो उसे आशीष देने के लिए पूज्यपाद शचीशजी का ही आह्वान होता है – उपन्यास इसी विडम्बना के संकेत पर ठंडे ढंग से ख़त्म हो जाता है।

'घरे-बाइरे' की दुनिया अधिक खुली हुई और सचेतन है। संदीप वाचाल राष्ट्रवादी है, विमला का पति, निखिलेश शान्त देश-प्रेमी ! वाग्जाल में उलझकर विमला सन्दीप की पक्षधर हो जाती है, पर शीघ्र ही उसका भ्रम टूट भी जाता है और जब वह पाती है धन-लोलुपता, ईर्ष्या, कामादि से वशीभूत सन्दीप आदर्श से अधिक आदर्श का भुलावा है, तो बाहर की दुनिया से वह वापस घर लौट आती है। उपन्यास का अन्त घायल निखिलेश के पालकी में पड़े होने को दर्शाता है। वे नये सिरे से सम्बन्ध जोड़ पायेंगे कि नहीं और इस सम्बन्ध का स्वरूप क्या होगा – यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है।

'योगायोग' (1926) गॉल्सवर्दी के 'फॉरसाइट सागा' के तर्ज पर लिखी तीन पीढ़ियों की कहानी है। यहाँ रवीन्द्र का सारा नारीवाद हवा हो जाता है, जब पशुवत् पति मधुसूदन के आश्रय में कुमुदिनी दुबारा भेज दी जाती है। 'सबला' लिखनेवाला कवि लकीर का ऐसा फ़कीर होगा – सहज विश्वास नहीं होता।

अपने वाक्चातुर्य और मसृण काव्य के कारण 'शेषेर कविता' (1930) ने बंग-जगत् में धूम मचा दी। श्रीकुमार बैनर्जी, बुद्धदेव बसु और नीहाररंजन राय– जैसे कठिन आलोचकों ने भी इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। 'गोरा' का रचयिता अमित राय का भी प्रणेता है – उसकी लेखनी की यह मामूली विशेषता नहीं। कविता और दर्शन को उँगलियों पर नचानेवाला ऑक्सफ़ोर्ड-स्नातक अमित राय जितना वाक्पटु है, उतना चंचलचित्त भी। अंग्रेज़ी रंग में रँगी जिन आधुनिक बंगाल की नारियों के संसर्ग में वह रहता है, उनकी तुलना में गम्भीर पढ़ाकू लावण्य – ख़ासकर पहाड़ी प्रदेश की पृष्ठभूमि में–उसे बहुत आकर्षक लगती है। पर 'किटी' के समक्ष उसका रंग-ढंग देखकर, लावण्य को यह समझने में देर नहीं लगती कि अमित को प्रेम उससे नहीं, उसके भिन्न परिदृश्य-जन्य वायवीय बिम्ब से है, जिसका आकर्षण तुरत मिट जाएगा। वह उसे किटी से ब्याह करने को स्वतन्त्र छोड़कर चली जाती है, और गम्भीरतर शोभनलाल से हो रहे अपने विवाह के कार्ड के साथ जो कविता वह अमित को भेजती है, उसी में इस उपन्यास का संपूर्ण मर्म छिपा है :

"मैं तो मिट्टी का पुतला थी एक,
मुझे खोकर तुमने क्या खोया।
यदि भंगुर मिट्टी से तुमने
गढ़ी है कोई देवी,
देवी रहेगी वह तुम्हारे ही पास,
तुम किया करना पूजा-वूजा,
मेरा कोई कटु यथार्थ तुम्हारी पूजा
भंग नहीं करने आएगा,
कामना-दग्ध कोई गर्म साँस मेरी
झुलसायेगी नहीं पूजा के फूल,
जो मैंने दिया, वह तुम्हारा था
तुम्हारी थी अपनी वह सृष्टि,
मेरे कुमार, मित्र मेरे,
तुम्हारा ही उपहार था वह जो
मैंने दिया तुमको
जितने निर्मल मन से कर लोगे स्वीकार,
उतना ही गहरा ऋण होगा मेरा।"

अगली दो कृतियों 'दो बहनें' (1933) तथा 'उपवन' (1934) में नारी-मनोविज्ञानसम्मत रवीन्द्र की यह दृष्टि सामने आती है कि स्त्रियाँ मुख्यतः दो तरह की होती हैं। एक में मातृत्व प्रबल होता है, दूसरे में प्रियातत्त्व। 'दो बहनें' की शर्मिला में मातृ-तत्त्व अधिक है और उर्मिला में प्रिया-तत्त्व। शर्मिला की परिचर्या के लिए उर्मिला आती है तो शर्मिला का स्वामी उसकी और खिंचता है। शर्मिला उसे विवाह की अनुमति भी दे देती है, लेकिन तभी अचानक उर्मिला लंदन से एक लम्बी-सी चिट्ठी में अपनी स्थिति स्पष्ट करती है, जो उसे वायवीय चरित्रों की श्रेणी में ला पटकता है।

'उपवन' में बीमार नीरजा का पति, आदित्य, घर की देख-भाल के लिए अपनी पूर्व-परिचिता सरला को बुलाता है और एक बिन्दु पर खुलकर उससे प्रणय-निवेदन भी करता है, पर नीरजा की ईर्ष्या से अभिज्ञ सरला अन्त तक अपना भाव छुपाये रखती है।

'चार अध्याय' (1934) में भूमिगतों को एक ख़ास तरह की वितृष्णा के साथ चित्रित किया गया है। ब्रह्मबान्धव उपाध्याय का घोर आपत्तिजनक संदर्भ तो बाद के संस्करणों में हटा दिया गया, फिर भी इन्द्रनाथ– जैसे जाली व्यक्ति को भूमिगतों का नेता दिखाकर रवीन्द्रनाथ ने देशभक्तों का अपमान ही किया है। इला-अतिन

का प्रेम-प्रसंग उपन्यास की एकमात्र शक्ति है। इला के पुलिस द्वारा पकड़ लिये जाने पर उसके प्रेमी अतिन को ही उसका काम तमाम करने के लिए भेजा जाता है। इला समझ जाती है और आँसुओं की झड़ी के बीच उसे चूमती हुई कहती है : "मार डालो मुझे, मार डालो ! उनके घिनौने हाथ मुझे छू भी न पाएँ। मैं तुम्हारी हूँ और तुम्हारी ही रहूँगी।"

मध्यवर्गीय परिवेश का गीतिमय भावलोक जिस कुशलता से रवीन्द्रनाथ ने बाँधा, कम ही कथाकार बाँध पाये हैं। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक समस्याएँ सबके केन्द्र में हैं और प्रायः हर जगह वितृष्णा और करुणा हाथ बाँधे खड़ी हैं। ज़्यादातर कहानियाँ पारम्परिक हैं, पर अन्तिम तीन किसी भी आधुनिकतावादी रचना से अधिक आधुनिक है। 'काबुलीवाला' और 'क्षुधित पाषाण' अपने फ़िल्मीकरण के कारण बाङ्ला-इतर जगत् में भी बहुचर्चित हैं, पर ज़्यादातर कहानियों का अनुवाद नहीं हुआ और सुविधा की दृष्टि से इनकी तीन-चार श्रेणियाँ की जा सकती हैं: प्रेम, सामाजिक सम्बन्ध, मानव-प्रकृति—एकसारता-विषयक तथा पारलौकिक।

प्रेम-कहानियों में प्रमुख है 'एक रात्रि', 'कन्यादान', 'शास्ति', 'महामाया' तथा 'अध्यापक'। अन्तिम में व्यंग्य का स्वर प्राकृतिक ऊहापोह में घुला-मिला है। 'समाप्ति' में पति से अचानक अलग किये जाने पर अबोध किशोरी मृण्मयी एकदम-से बड़ी हो जाती है – स्त्री-मनोविज्ञान की सूक्ष्म काव्यात्मक पकड़ के कारण यह कहानी महत्त्वपूर्ण है।

कहानियाँ सामाजिक यथार्थ से अछूती नहीं रह सकतीं। सामाजिक कहानियों में 'दीदी', 'देन-लेन' और 'नष्टनीड़' (चारुलता) प्रमुख हैं, पर 'स्त्रीर पत्र' का जवाब ही नहीं। यह अपने ढंग की पहली नारीवादी कहानी है, जहाँ नारी की अस्मिता स्पष्ट रेखांकित है : "अब मैंने खुद को जान लिया है। मर गई पुरानी बहू !" इसमें इंगित कई समस्याएँ तो आजतक नहीं सुलझीं।

मानव-प्रकृति की एकसारता रेखांकित करती कहानियों में 'शुभा' और 'अतिथि' का नाम लिया जा सकता है। शुभा पर लूसी की छाया है, 'अतिथि' के तारापद में बर्गसां की इस उक्ति का कि "दुनिया अंधेरे में चलता हुआ रथ है। सभी चीज़ें चलायमान हैं, धरती काँपती है, हवा चलती है, नदी और नावें चलती हैं।" इन कहानियों का एक अलग ही मिज़ाज है।

प्रेतादि पारलौकिक संदर्भों में रुचि दिखाती कहानियों में नाम आएगा 'सम्पत्तिदान', 'गुप्तधन', 'कादम्बिनी', 'निशीथ' और 'क्षुधित पाषाण' का। 'क्षुधित पाषाण' तो पो और कोलरिज की रहस्यात्मकता के समकक्ष खड़ा होता है, ख़ासकर मेहर अली की अन्तिम पुकार दूर तक हमें चीर जाती है : "सब झूठ है, झूठ का सच ही उगता है।"

रवीन्द्रनाथ की अन्तिम तीन कहानियाँ (ज़्यादातर प्रेत गाथाएँ) मनोवैज्ञाविक असुरक्षाओं से उठती दिखायी देती हैं। 'रविवार', 'शेष कथा', तथा 'प्रयोगशाला'– एक साथ सन् 40 में सामने आयीं और भाषा एवं कथ्य – दोनों के नये तेवर उजागर किये। 'गल्पगुच्छ' का लेखक खुद एक अप्रतिम कहानी था। आज हम दूसरी दुनिया में चले आये हैं। हालाँकि पुरानी रीतियाँ पूरी तरह नहीं बदलीं, इनका स्वर बदल गया है। भाषा केन्द्र में आ गयी है। 'लेबोरेटरी' ने तहलका मचा दिया था। इसने न सिर्फ़ माँ-बेटी के रिश्ते की एक नयी गुत्थी उजागर की, बल्कि वफ़ादारी का नया स्वरूप भी उद्घाटित किया। सोहिनी अपने पति की प्रयोगशाला को उजड़ने नहीं देगी, इसके लिए उसे अपनी कल्पनाप्रिय विधवा बेटी नीला से उलझना ही क्यों न पड़े ! यहाँ रूमानी रवीन्द्रनाथ का यथार्थवाद प्रकट हुआ है। पंजाब की लड़की – सोहिनी एकाधिक बार कटार दिखाती है – अब यह किसी को प्रिय लगे या अप्रिय, आश्चर्यजनक तो लगता ही है। भाषा की चमक अभी तक फीकी नहीं पड़ी।

कवि का धर्म

धर्म मनुष्य का ब्रह्माण्ड से एक ख़ास तरह का आत्मशोधक, आत्मस्वीकृतिपरक सम्बन्ध स्थापित करता है। वह एक व्यक्ति या एक पूरे समुदाय की प्रतीक भाषा है। ज़्यादातर लोग किसी-न-किसी धर्म के साथ पैदा होते हैं, पर कोई-कोई ही रवीन्द्रनाथ की तरह खुद अपना धर्म अर्जित करता है। यह धर्म यथार्थ और अति-यथार्थ को निवेदित उनकी सच्ची, किन्तु अप्रचलित आस्था का नाम था।

विस्तृत, ग्रहणशील विकास के बावजूद रवीन्द्रनाथ का चिन्तन कमाबेश मौलिक था : 'वैदिक पूर्वजों' का उनका रास्ता अनन्त दूरस्थ तक की यात्रा है। पारम्परिक से अधिक मनमौज़ी, धार्मिक-से-अधिक–रूमानी – क्या किसी ने रूमानियत को विखण्डित धर्म नहीं कहा ? ये दूसरे से अधिक स्वयं को सम्बोधित करते हैं। उन्होंने कलाकार के धर्म पर एकवचन प्रथम पुरुष में लिखा है, यही उनकी शक्ति और कमज़ोरी – दोनों थी।

रवीन्द्रनाथ का धर्म मनुष्य के सामाजिक सरोकारों से अधिक उसके एकान्त को निवेदित था। वे रीतिबन्धनों से बाहर थे और उनका पथ किसी दृढ़ मत का न होकर 'चिरपथभूला' का रूमानी और चिरविकासमान पथ था। राष्ट्रवाद आदि पर उनके चिन्तन से परम्परावादी खुश नहीं होंगे। गॉर्डन ऑलपोर्ट ने ठीक ही कहा है : "हालाँकि सामाजिक अन्योन्याश्रयता उनमें है, वे हज़ार तरह से दूसरों पर अवलम्बित हैं, फिर भी जो आस्था उनमें विकासमान है – कोई उन्हें बाहर से लाकर देता या उन पर थोपता नहीं।' रवीन्द्रनाथ की आस्था पर रवीन्द्रनाथ को आस्था थी – उनके दर्शन पर उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप है।

पहले-पहल ऑक्सफ़ोर्ड के हिब्बर्ट व्याख्यानों के बहाने उनके धार्मिक अनुचिन्तनों की शुरूआत हुई। तब तक वे सत्तर के हो चुके थे और उनके चिन्तन में एक ठहराव आ चुका था। इस व्याख्यानमाला का नाम था – 'मनुष्य का धर्म'। "मेरे धार्मिक जीवन का विकास-क्रम भी उतना ही रहस्यात्मक है, जितना कवि-जीवन का।" शास्त्रीय और ब्रह्मवादी स्थापनाओं से इनकी बुद्धिवादी व्याख्याएँ अलग तो हैं, पर सर्वथा दोषमुक्त नहीं। मनु, शंकर और रवीन्द्रनाथ – हमारी संस्कृति-चेतना

की तीन धार्मिक उपाख्यिकाएँ कही जा सकती हैं। रवीन्द्रनाथ सामाजिक चिन्तक या अनुपम धार्मिक टीकाकार न भी हों तो भी उनका महत्त्व कविसुलभ उदारवादी दृष्टि के कारण अक्षुण्ण है। उनमें लगातार एक कवि की आस्था मुखर है।

उनका दर्शन बना-बनाया न था, वह धीरे-धीरे विकसित हुआ। प्रकृति, पुरुष, आराध्य और सभ्यता – इनकी धार्मिक चेतना से इन चार आयामों का आपसी संयोजन जिस सूत्र से होता है, वह है – असीम व्याकुलता का दर्शन : "मुझ पर लगातार वनवासियों की करुण व्याकुलता हावी रही।" उपनिषदों में पगा संभ्रान्त 'प्रगतिवादी' ठाकुर-परिवार कट्टरपंथी नहीं था। पारम्परिक हिन्दू-समाज से ज़रा हटकर "मन्दिर के द्वार पर छोड़ा गया" ठाकुर-परिवार राममोहन राय के नक़्शेकदम पर पश्चिमी हवाओं की ताज़गी ग्रहण कर रहा था, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लिए तो ताज़ा हवा के झोंके खुद 'अगाध शून्य' से आ रहे थे। ब्रह्म पैदा हुए, ब्रह्मसमाज के सचिव भी रहे, पर रवीन्द्रनाथ का धार्मिक दर्शन समष्टिवादी नहीं था, वह लगातार एक-अकेले 'व्यक्ति' को ही निवेदित रहा।

असीम की प्यास रवीन्द्रनाथ को बाउल साधुओं के लोककाव्य की ओर उन्मुख कर गयी। उन्होंने इन्हें गुरु स्वीकार भी किया है, पर 'रवि बाउल' बाउल-भातृत्व के अलावा औपनिषदिक, रूमानी और आधुनिकतावादी दर्शनों के भी ऋणी थे : "यहाँ नहीं, वहाँ नहीं, दूरस्थ के उर में।" पर मैक्स वेबर के शब्दों में, यह स्वीकार का नहीं, पलायन का दर्शन था।

अपने प्रिय कवि ह्विटमैन की तरह उन्होंने भी 'आत्म' के साक्ष्य से ही बातें कहीं और एक संस्था के रूप में धर्म के पल्लवन में अपनी अनास्था व्यक्त की। 'सांग ऑफ़ माइसेल्फ़' को वे इतिहास नहीं, आत्मकथा मानते थे। यह स्वस्थ मानवीय रिश्तों का वास्तविक संसार है। उनकी दृष्टि में अव्यक्त सत्ता के प्रति सच्ची संवेदना का विकास ही धर्म है। स्वर्ग कोई कल्पना-लोक नहीं, मनुष्य इहलोक से परलोक की तूफ़ानी यात्रा का एकाकी यात्री-भर है। रवीन्द्रनाथ का धर्म मनुष्य के सीमावर्त्ती अस्तित्व का उत्कर्ष स्थापित करता था। संवेदना यहाँ दैनिक धरातल पा जाती थी।

कभी-कभी अनास्था का स्वर भी उभरता है, पर दबे-ढँके रूप में। 'गीतांजलि' का कवि पूरा भक्त हो, ऐसा भी नहीं "मुझे लगता था कि कोई है जो मुझ पर और मेरी दुनिया पर एक आशीषकवच की तरह छाया है, मेरी अनुभूतियाँ ही उसकी अभिव्यक्ति है। मेरी रचना दरअसल उसके और मेरे अनुभवों का साझा है। मैं उसके प्रति उत्तरदायी हूँ, मेरा धर्म मानव-धर्म है। अनन्त मेरे लिए मानव का चोला पहनकर आया है – 'मेरा प्रेम, मेरा सहयोग पाने।' उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया कि उनका धर्म उनके मन की तरंगों पर तरंगायित था।

आत्मनिरीक्षक होने के साथ वे अपने समय के पूर्ण प्रतिनिधि भी थे। विज्ञान का विरोध करने के स्थान पर वे उसका समावेश करते थे। ईश्वर, प्रकृति और मनुष्य को एक सातत्य में देखने की प्रेरणा उन्होंने उससे ली।

विकासवाद के सिद्धान्त का अनुमोदन करते हुए उन्होंने कहा कि शारीरिक विकास के लिए गूढ़ मनोवैज्ञानिक यात्राएँ ही शेष हैं। पर ब्रह्मवाद को नृशास्त्र में परिवर्तित करना इतना आसान नहीं। रवीन्द्रनाथ अपने एक प्रमुख एकालाप में हमें यह याद दिलाना नहीं भूलते कि मशीन और तकनीक में आधुनिक मानव का जानुनमन हमें जड़ और अचेतन से बाँध रहा है। मानव पर अमानव हावी हो गया है : "हर जगह इस मानव जगत में मानवीय यथार्थ पर अमूर्त्त के हावी होने से दाता को तकलीफ़ होती है।" दूसरे रूमानियों की तरह मशीनी जीवन की ऊहापोह में मानवीय रिश्तों की आर्द्रता के नृशंस हनन से उनका घोर विरोध था। आध्यात्मिक जीवन की एकता और अभिलाषा ही रवीन्द्रनाथ का क्षेत्र और मुख्य स्थापना थी। सारी ब्रह्म-विद्या और अन्य विधान रवीन्द्रनाथ के यहाँ गौण हैं। इसमें और बस ये इतना जोड़ते हैं कि धार्मिक होने के लिए संवेदनशील होना आवश्यक है, सिर्फ़ कवि के लिए जीवित रूप में धार्मिक होना सम्भव है। सामान्य व्यक्ति के रोज़मर्रे के सामान्य यथार्थ के प्रति एक ख़ास तरह की विरक्ति यहाँ दिखायी देती है। हर सामान्य व्यक्ति के भीतर एक विशिष्ट व्यक्ति बैठा होता है। जो उस "विशिष्ट व्यक्ति" की गवेषणा नहीं करता, उसका जीवन व्यर्थ है ऐसा रवीन्द्रनाथ मानते हैं।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श और सम्पूर्ण मानव-परिवार के आदिशक्ति में विलय का अद्वैतमुखी दर्शन लेकर ये आगे बढ़े थे। इसका अर्थ था राष्ट्रों और विचारधारक के समस्त विरोधों का अंत और एक सार्वभौम नीतिशास्त्र का विकास। अपने समस्त गुरुओं के साथ रवीन्द्रनाथ भी क्षुद्रता को मानवीय विकास में सबसे बड़ी बाधा मानते थे। 'सर्वम् इदम्' से हमारे ऐक्य की चेतना ही धर्म का एकमात्र आधार और तर्क हो सकता है। मनुष्य देह का जन्म होता है और उसका क्षय भी। पर उसकी आत्मा और मानवीय चेतना अक्षय है। यह उनका अद्वैत ही इनके धर्मप्रवणता का निकष है और कल्पना की बात रवीन्द्रनाथ बार-बार करते हैं। अनंत की अभिलाषा ही आत्मा की सार्थकता (जॉन डेवी, कॉमन फ़ेथ) है। ब्लेक की तरह रवीन्द्रनाथ भी मनुष्य की कल्पना-शक्ति, अंतर्दृष्टि और प्रत्यभिज्ञा को अध्यात्म का प्राण मानते थे, और इन रूमानियों का तरह उनका अध्यात्म-बोध संदेह-शून्य भी नहीं। मृत्यु-शय्या की उनकी एक कविता थी : "कौन हो तुम ?" इसकी अपील से किसे इंकार हो सकता है।

यह हमें 'बहिरंग' से 'अंतरंग' की ओर मोड़ता है। शक्ति, संघर्ष, शोषण आदि

समस्त क्षुद्रताओं से उबारकर यह हमें प्रेम, करुणा, विवेक, उत्सर्ग आदि उच्च भावनाओं के घेरे में ले जाता है और 'वस्तुवाद' के आतंक से मुक्त कर आत्मानुभव की ओर भी।

सांस्कृतिक मोर्चे पर, उनका मानना है कि, जैविक और आर्थिक अभिप्राय जीवन को सही स्पन्दन नहीं देते। मौलिक सुविधाएँ जुटा लेने के बाद मनुष्य को चाहिए कि वह आगे की सोचे ! "कुछ है जो पहुँच के पार है" – इसका बोध ही जीवन को दिशा देता है और मुक्ति। स्थान-कालादि की अनन्तता में प्रवेश से अधिक महत्त्वपूर्ण है शाश्वत मानव-मूल्यों की गहनता का बोध : 'रीतस्य पंथ' (सत्यमार्ग) में प्रवेश, परमज्ञानसिद्ध जीवनदृष्टि। सभ्यता के संकट ने जिसका मार्ग प्रशस्त किया है, रवीन्द्रनाथ उसे 'अतिरिक्तता की शक्ति' कहते हैं। इसके अनुसार जीवन हमेशा प्रवहमान है तो काल, स्थान-व्याप्त सर्जक के अतिरेक से। सभी सभ्यताएँ यही अतिरेक व्यंजित करती – आपस में जुड़ी – कड़ियाँ हैं। समष्टिगत मुक्ति की यही धारणा बोधिसत्व के दृढ़ (हीरक) संकल्प में भी रूपायित हुई कि जब तक एक व्यक्ति पीछे है, किसी की मुक्ति पूर्ण नहीं कही जा सकती। ऐसे दर्शन का संवाहक तो किसी टुच्चे राजनेता या तकनीकीविशेषज्ञ और व्यावसायिक क्रान्तिकारी से अधिक कोई कवि ही होगा।

अज्ञान ओर बहुतेरी गुलामियों में जकड़ी हमारी अवशिष्ट आत्मा की यह दिनचर्या कालातीत, अविश्वसनीय और पहुँच के बाहर दीखती है, पर रवीन्द्रनाथ की मान्यता ऐसी नहीं थी। एक बार रवीन्द्रनाथ ने विभिन्न सभ्यताओं की कल्पना काग़ज़ की भिन्न नौकाओं के रूप में की थी, जो विशिष्ट मानवता के कगार तक अपने-अपने ढंग से बही जा रही हैं। आदर्श ही रवीन्द्रनाथ के जीवन का सबसे बड़ा यथार्थ था : "सभ्यता पारबोधी मानवता का अनन्त अन्वेषण है।"

उनमें आधिकारिकता नहीं; और वे दोष की सीमा तक सरल भी हैं। युवावस्था की दो दैवी झलकियाँ उनकी आस्था की कुंजी हैं और उनसे बाद के धार्मिक व्याख्यानों की कोई तुलना ही नहीं। शायद व्याख्यान रवीन्द्रनाथ का क्षेत्र नहीं था। 'मानव धर्म' पिष्टपेषण ही है – लगता है, बुलबुल भाषण पर उतारू है। उसका बेहतरीन हिस्सा वे एकालाप हैं, जहाँ तर्क की दृढ़ता नहीं। सामान्य मानव के परम मानव में विकास की संभावना की धारणा पारंपरिक धर्म की अवधारणाओं के अनुरूप नहीं। रवीन्द्रनाथ का विकास – क्षितिज आकांक्षा की भाषा पहचानता है, दृढ़ नियमों पर यह अवलम्बित नहीं। वे कल्पना के आभा लोक से बात करते और ऐसे दृष्टांत देते चलते हैं जो बहुधा बात की विशिष्टता कम भी नहीं करते। श्लेष और आत्म-खण्डन, विचार और अनुभूति के बीच टकराव आदि दोषों का निराकरण करने की वे ज़रूरत नहीं समझते। शास्त्रसम्मत और लोकसम्मत अवधारणा भी ये एक

साथ लिये चलते हैं। इतिहास से बड़ा यथार्थ उनके लिए कल्पना है।

हमारे इस विवश विश्व-ग्राम में जीवनसार की उपेक्षा घातक सिद्ध हो सकती है। यहाँ हमें कवि की ज़रूरत महसूस होती है। वह चेतावनी देता है और प्रेरणा भी। रवीन्द्रनाथ एक सरल शिक्षक मात्र नहीं है। अप्राप्त आदर्श में इस विशिष्ट (अलोकप्रिय) आस्था का दुर्धर्ष धर्म कठिन राहों-संघर्षों और स्वयं को निवेदित प्रश्नों (मैं कौन, आदि) से पटा पड़ा है। चिन्ता, आत्म-निवार्सन, पीड़ा और संदेह आदि से रवीन्द्रनाथ मुक्त नहीं। आत्मा के निमिषान्धकार की चिन्ता से उनका आनन्दातिरेक मुक्त नहीं था। आधुनिक और रूमानी, दोनों तरह के समीक्षकों ने ठीक ही कहा है कि रवीन्द्रनाथ मूलतः विश्वजनीन प्रचार दर्शन के पुरस्कार का यत्न कर रहे थे, जो अनुभव के एक विश्वस्त क्षितिज की क्षतिपूर्ति से प्रेरित था। यही परपराच्युत लोगों के बीच उन्हें प्रासंगिक बनाता है। उदाहरण के लिए, इस पद के चलन के बहुत पहले से वे 'पर्यावरण संरक्षण' के कवि थे। विश्वेतर का 'कवि' धरती का कवि भी था।

मनुष्य के लिए उनकी आशाओं के आलोक में उनके अंतिम सार्वजनिक व्याख्यान के अतिमानववाद पर विचार करते हुए हमें अपने आपसे मानवीय विकास की समान्य प्रवृत्तियों पर प्रश्न अवश्य पूछने चाहिए। व्यावहारिक राजनीति ने अब तक न ये प्रश्न पूछे हैं न उनके उत्तर तलाश किए हैं। मनुष्य का सच उसकी असुरक्षाओं, असंतोषों, एवं तनाव बिन्दुओं 'अभी नहीं' के साम्राज्य और अज्ञान के बीच से ही होकर गुज़रता है। अनिश्चय ही हमारे विकासपूर्ण जीवन के सम्यक् अर्थ भी देता है।

अस्थिरता और अस्पष्टता रोचक हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते पर यह दुनिया के सामने कवि का मन्तव्य अवश्य स्पष्ट करते हैं। पूर्णता की सूक्ष्म कामना ने कवि को हमेशा विचलित रखा। पथिकों ने इस सहचर को एक सीधे-सादे दार्शनिक के साँचे में बैठाकर नहीं देखा जा सकता। कॉफ मैक लिखते हैं :– मनुष्य को छेड़े बिना धर्मचर्चा का दम भरना झूठे मसीहा का लक्षण है। मुक्ति के दूरस्थ क्षितिज की याद में खोये रवीन्द्रनाथ सूक्ष्म अवश्य थे, झूठे नहीं थे। ख़तरों से खेलते जीवन पर एक आलेख थी उनकी धर्म-धारणा। उनका मानव-धर्म मनुष्य की पहुँच के बाहर नियति और अजन्मे देवता से जुआ खेलता दीखता है। शायद आदर्श के लिए यह गहरी आसक्ति सर्वानुभूत मानव नियति ही सभ्यता के विनाश को उबारे।

अपने सर्वाधिक रूमानी और रावीन्द्रिक स्वरूप में धर्म एक ऐसी क्षुधा है, जो इस लोक क्या, परलोक में भी कभी शांत नहीं हो सकती क्योंकि जो भी यथार्थ है, वह इसके या उसके दोष से लांछित तो होगा ही। कवि की दृष्टि में क्या मनुष्य

असीम है – निस्सीम ही जिसका घर है और मंज़िल भी। ऐसी असंभव छायालिप्सा उसी आत्मा की हो सकती है जिसका मूल तत्त्व अग्नि हो, मिट्टी नहीं। यह लोकेतर समबुद्धि क्षेत्र की बात है। यह तथ्य अलग है कि अपनी प्रेम-छायाओं से प्राकृतिक विज्ञान और इतिहास मुक्त नहीं हो सकते।

निस्सीम आवेग, शाश्वत पीड़ा एवं अतीत, मोह इस शाश्वत त्रयी के लक्षण जब तक वह आत्मसात् कर ले, वह रुकता-चुकता नहीं। यहीं आत्मान्वेषण कवि ने एकान्त में किया। जब तक आवेग की अग्नि नहीं बुझती, आत्मा के किसी-न-किसी कोने में मानव धर्म बरक़रार ही रहेगा।

सामाजिक होते हुए भी वे पृथकतावादी ही हैं। 'ब्राह्मण' से अधिक 'बाङ्ला'। उनके अनुसार मुक्ति की विकास-कथा मानवीय रिश्तों की पूर्णता की कथा है। पर उनका सही सरोकार सचमुच के समाज से अधिक आदर्श समाज से है। उनका दर्शन दरअसल सुसमायोजित है। बहुसंख्यक का दर्शन न होकर असमायोजित अल्पसंख्यक का दर्शन है। अपनी बाद की कविता में उन्होंने स्वीकार भी किया है – उनके साथी उनके इस एकांत के सहचर थे जो सामाजिक परिधि के बाहर था।

रवीन्द्रनाथ की तलाश युगों से चली आयी निष्फल तलाश है। पर क्या इहलोक और परलोक कभी एक हो सकते हैं ? स्वप्नदर्शी के पास सपनों के संबल के सिवा होता भी क्या है ? यह रूमानी आत्मनिर्वासन पथिकों की विस्तृत मातृत्ववादी भावधारा को निवेदित है। कोमल विश्वस्त आप्लावनकारी इस दर्शन में कल का अतीत आज की ख़बर है – कवि की आत्मा के क्षितिज पर सहज द्युतिमान आज का सन्देश ! सँभल कर चलिए, क्योंकि आख़िर आप भी तो एक कवि के सपनों पर पाँव रख रहे हैं।

सौन्दर्य-शास्त्र

सौन्दर्यशास्त्र तथा साहित्य के बीच सम्बन्ध अन्तरंग होने के साथ-साथ जटिल भी हो सकते हैं। दर्शनिकीकरण, जो अवश्यम्भावी है, सम्बन्ध और सम्पुष्ट करता है। पर इसके ख़तरे भी हैं : रूढ़िबद्धता और सरलीकरण से सम्बद्ध। अन्यथा यह सर्वस्वतन्त्र गतिविधि बनकर रह जाता है। इसकी आलोचना करते हुए कलिंवुड कहते हैं कि यह एक ऐसे दार्शनिक का चिन्तन है, जिसके पास चिन्तन के लिए कुछ बचा ही न हो। बात यह है कि मानव अनुभूति के ऐसे क्षेत्र में हम पहुँच गये हैं जहाँ, बकौल ब्लेक के, सामान्यीकरण सरासर मूर्खता है। क्यों ? इसके कारण जटिल हैं। हम संक्षेप में कुछ की चर्चा कर सकते हैं, उदाहरणार्थ – बुद्धि यथार्थ की मारक है, बुद्धि से सृजन नहीं होता और चूँकि कलाकृतियाँ सर्वथा एक नहीं होतीं, इसलिए एक अकेले सामान्यीकरण से काम नहीं चलता। इससे सम्पूर्ण यथार्थ प्रकाशित नहीं होता। हमें अंतर्दृष्टि और विश्लेषण – दोनों की आवश्यकता पड़ती है। 'यह अथवा वह ; नहीं – दोनों। पर हमें एक धरातल पर दोनों उपलब्ध हों कैसे, कैसे मिले उनकी एक संश्लिष्ट, परस्पराबद्ध ज्योति जो एक-दूसरे को बुझा न डालती हो ?

इस बिन्दु पर रवीन्द्रनाथ एक अनूठे उदाहरण के रूप में भी उभरते हैं, एक अपवाद और चेतावनी के रुप में भी। दोस्तोय्वस्की का राजकुमार कहता है, "सौन्दर्य दुनिया को बचाएगा।" इतिहास और दुनिया की दहशतों और विरूपताओं के ख़िलाफ़ हमारे मन में भी यही आस्था होनी चाहिए "बन्दूक़ गर्जना के ख़िलाफ़ खड़ी जुही–गीतिका" जिसे रवीन्द्रनाथ इस प्रकार रखते थे –

तरल क्षणों में रवीन्द्रनाथ को यह भय सताता था कि उन्हें दार्शनिक का चोंगा न ओढ़ा दिया जाए। कभी-कभी, विशेषतः विदेशों में, उनका यह रूप उन पर हावी भी हो जाता था। इससे लाभ हुआ और हानि भी हुई। दरअसल उनका दाय कोई योजनाबद्ध दर्शन नहीं है, एक ख़ास तरह के दर्शन की स्निग्ध-सी अपील के लिए वे याद किए जायेंगे। उनकी साहित्यिक समालोचना को उनकी सौन्दर्य-शास्त्रीय मान्यताओं से एक करके नहीं देखा जा सकता। वह एक अलग ही प्रसंग है जिससे हमें यहाँ कोई सरोकार नहीं।

और इस दृष्टिकोण की आधारभूमि अनुभव, प्रधानतः अपना अनुभव, नहीं तो और क्या है ? कविता की दुनिया में द्रष्टा ही स्रष्टा है : 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापति'। रवीन्द्रनाथ जानते थे, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, कि मुख्यतः वे कवि ही हैं : 'आमि कवि' – यह ईमानदार स्वीकारोक्ति हो सकती है, पर किसी तर्कसिद्धि में इससे कोई ख़ास मदद नहीं किलती। उनके ही कथनानुसार उनका धर्म कविधर्म है और उनकी कला-सम्बन्धी मान्यताओं पर भी इसकी स्पष्ट छाप है। वे कहते हैं, "इस सम्बन्ध में मैं जो भी कहता हूँ, उसका आधार अंतर्दृष्टि है, ज्ञान नहीं। ... मैं समझता हूँ कि यह मेरा सौभाग्य है कि अकादमिक प्रशिक्षण से मैं विरत रहा।" इसे सिर्फ़ सौभाग्य नहीं माना जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि वे स्वच्छन्द हैं, अनुशासनबद्ध नहीं, रूमानी हैं, वेदान्ती नहीं, भावुक हैं, नियन्त्रित नहीं। उनका दर्शन मन की उच्छल तरंग का दर्शन है, वह किसी विशेष परम्परा से आबद्ध नहीं – कुछ-कुछ उनके अपने ही कुमारस्वामी की तरह जिसके लिए कला संवेदनाओं का जयघोष नहीं, बल्कि दृढ़ रूढ़ियों से आबद्ध धर्म की प्रतिच्छाया है; सौन्दर्यशास्त्रीय निष्कर्ष नहीं, वाक्चातुर्य जिसका अभीष्ट है।

यह आश्चर्यजनक है कि अपने सौन्दर्यशास्त्रीय आलेखों में रवीन्द्रनाथ शायद ही किसी प्राचीन या मध्यकालीन पाठ का हवाला देते हैं। उनके यहाँ वेदों – उपनिषदों और अँगरेज़ रोमान्टिक कवियों (विशेषतः शैली, कीट्स और कभी–कभी वड्र्सवर्थ) की चर्चा आती है। पर यदि वे रूमानी भी हैं तो ख़ास अर्थों में, क्योंकि हर जगह वे परम्परा के बंध नहीं काटते। जितनी आसानी से, सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' के बद्धमूल आदर्शों की शरण वे जा सकें – उससे किसी तरह का सर्जनात्मक विरोध उनके लिए कठिन, असम्भवप्राय हो गया। पारम्परिक दर्शन की बाँसुरी उन्होंने बजायी, पर इस बाँसुरी में धुन अपनी भरी।

पर इससे कई विरोधाभास सामने आए। आर्ष विवेक में आस्था रखनेवाले इस मनीषी ने बाहरी सम्प्रदायों से अपना स्नेह-सम्पर्क बहुधा स्वीकार किया है – विशेषतः व्रात्यों और बाउलों से। बाद के दिनों की अपनी एक कविता में नाटकीय खिलवाड़ के साथ वे कहते हैं; 'मैं जाति-बहिष्कृत हूँ।' यह रवीन्द्रनाथ का दूसरा विरोधाभास है, इतिहासेतर तथा समाजोत्तर के लिए उनकी अथक प्यास। सारी शालीनता और सामाजिक सहानुभूतियों के बावजूद रवीन्द्रनाथ के लिए यह सम्भव नहीं होता कि कला को वे सामाजिक उपादान के परे कुछ नहीं समझें, जैसा कि सामाजिक-आर्थिक उपादेयतामूलक दर्शन बहुधा समझते हैं। कारण-कार्य सम्बन्ध–जिसे वे ऐतिहासिकता कहते हैं – उन्हें खिन्न करते हैं। 'इस आशय के परामर्श की प्रगल्भता' उन्हें असह्य दीखती है। 'कलाकार का धर्म' में आत्मस्वीकृति – मूलक स्वर में वे कहते हैं : "कविता रचयिता की ही सृष्टि है ... पर एक तरह

से वह स्वतन्त्र भी है – अपनी उत्पत्ति और विकास-यात्रा में इतिहास – चेतना कम-से-कम करती हुई वह प्रायः असम्पृक्त हो जाती है। ओस की एक बूँद को यह भान नहीं होता कि उसकी सत्ता का उत्स क्या है।" इतिहास का न्यूनीकरण और कलात्मक स्वच्छता का शीर्षस्थापन इस हद तक न तो किसी वैज्ञानिक को स्वीकार्य होगा, न किसी समाजशास्त्री को ही। अपने लिए रवीन्द्रनाथ आगे लिखते हैं : "सृष्टि के उपादान अंशतः इतिहास से मिलते हैं, अंशतः समाज से, पर ये स्रष्टा की सर्जना नहीं करते, न ही इनसे उसे समझा जा सकता है।" कलानुभूति की स्वच्छन्दता का आग्रह रवीन्द्रनाथ को किसी नयी या पुरानी रूपबद्ध रूढ़ि का अंकुश स्वीकार करने नहीं देता। प्रक्रिया' और 'व्यक्तिवाद' में आस्था के कारण वे पारम्परिक अर्थ में परम्पराप्रिय भी नहीं। अपने निबन्ध 'कला और परम्परा' में हम उन्हें कहते देखते हैं :

"कला कोई भड़कीला मक़बरा नहीं, विगत के एकाकी वैभव पर गहन चिन्तनलीन – जीवन के जुलूस को निवेदित, यथार्थ – चेतना है, भविष्य की तीर्थ-यात्रा पर निकली यथार्थ चेतना, भविष्य–जो अतीत से उतना ही अलग है, जितना बीज से पेड़।" तीर्थादि संदर्भों के बावजूद रवीन्द्रनाथ पुनरुत्थानवादी नहीं हैं जो कला को आत्मोद्धार का माध्यम मानते। इनका एकान्त-बोध इतना प्रखर है कि यह उन्हें किसी धारा में बँधने नहीं देता –

"भीड़ से अलग
अपना भावजगत् टोहा है मैंने –
चौराहे पर।"

चौराहा या पुल, जहाँ व्यक्ति मुक्तभाव से मिलते-जुलते हैं – सामाजिक और ऐतिहासिक सरोकारों के पार। जिसे शॉपेनहॉवर व्यक्तिवाद का त्रास और बौद्धिक अलगाव का शाप कहते हैं – उससे परित्राण का रवीन्द्रनाथ का यह अपना ढंग था। कला उनके लिए शाश्वत मूल्यों का संसार थी : विश्व-मानव का संसार : "रहस्यमय यह है", वे मानते थे, "कि व्यक्तियों की अभिव्यक्तियाँ अलग हों सकती है पर उनकी नियति अलग-अलग नहीं हो सकती ... उन्हें चाहिए कि अपनी हर कृति में वे उसी शाश्वत की गवेषणा करें, उसका स्पर्श अनुभव करें जो सबका नियति-निर्धारक है। टॉयनबी इसी को रेशीरियलाइजेशन कहते हैं : शाश्वत के रंग में रँगा एक एकीकृत जादुई संसार, जो रवीन्द्रनाथ की कविता की भूमि है और भारतीय दर्शन की पहचान : 'नित्य' और 'अनित्य' के बीच का पुल। इसके विभेद विभाजित नहीं करते और उद्देश्य-विधेय, कलाकार-श्रोता तथा अन्य सारे मानवीय द्वैतों का इनमें विलय हो जाता है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में यहीं नित्य-अनित्य एक-दूसरे से मिलते हैं।

और अधिक स्पष्ट शब्दों में रवीन्द्रनाथ हमें कहते हैं "हमारे जीवन का एक पक्ष नित्य होता है जहाँ हर क़दम पर हम छीजते चले जाते हैं, पर हमारा दूसरा पक्ष भी होता है जहाँ हमारे सपने, हमारे आनन्द और त्यागों की अनन्तता निवास करती है इसी अनन्त में हमारे उन प्रतीकों का जन्म होता है जो हमें अमर करते हैं।"

अपनी प्रकृति के अनुकूल एक स्थल पर वे 'तथ्यों के आतंक' की बात करते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि कला एक वैकल्पिक विश्व है या परिवर्तित यथार्थ ? पलायन या व्याख्या ? इस प्रश्न के उत्तर में अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में एक बार उन्होंने कहा था : "इस इतनी बड़ी दुनिया को मैं जानता ही कितना हूँ ?" यह शुद्ध रूमानी विनय है। विरोधों का विलय, कल्पना का द्वैत आदि प्रश्नों पर यह गीतिमय रहस्यवाद पर्याप्त प्रकाश नहीं डाल पाता।

रवीन्द्रनाथ की अनुभूतिमुखी, आदर्शवादी कलाचेतना संस्कृति में आस्था का एक बड़ा हिस्सा है : "एक ख़ास तरह के स्वर्ग में आस्था का हिस्सा, जिसे रवीन्द्रनाथ 'अतिवास्तविक' कहते हैं। आश्चर्यजनक यह है कि यही रवीन्द्रनाथ विज्ञान को अवास्तविक मानते हैं : "शक्तियों के अंतर्सम्बन्ध का अमूर्त जगत्", एक सम्बंध जहाँ कला विलीन हो गयी है। दूसरी तरफ़, कला मानवीय यथार्थ का संघनन है (विघटन नहीं) यह व्यक्तित्व की भाषा है। लुई ममफ़ोर्ड ने कहा था – "विज्ञान की सबसे बड़ी उपलब्धि मनुष्य का विलय है।" इसे रवीन्द्रनाथ दों रखते हैं : "इस मानवीय जगत् में हर ओर परमपुरुष मानवीय यथार्थ पर अमूर्त्तन के हावी हो जाने से त्रस्त है। कला मानववादी है क्योंकि व्यक्तिमुखी है : "हर व्यक्ति का प्रेमगीत अपना होना चाहिए।" कला की हित-चिन्ता मानवता की हित-चिन्ता है। कलाकार वह है जो विश्व की अंतरात्मा के अधिष्ठाता मानव की विशिष्टता को व्याख्यायित करे। यह कला-दर्शन इसे तर्कसंगत ढंग से व्याख्यायित भले नहीं करे पर यह हर जगह उपस्थित अवश्य है।

उपयोगितावाद के ख़िलाफ़ खड़ी यह कला-चेतना कहती है : "यदि सम्पूर्ण मानव का चित्र खींचना है तो भाव-जगत् और सौन्दर्य–चेतना के बिना बात बन ही नहीं सकती।" यह हमें वर्ड्सवर्थ की परिभाषा के निकट ला खड़ा करता है "कवि वह है जो मनुष्य की पूरी आत्मा को संपादित कर दे।" किंतु कर्मनिष्ठ कविता या कविता की इससे व्याख्या नहीं होती। इस दृष्टि से रवीन्द्रनाथ पारंपरिक से अधिक रूमानी हैं। वे ध्यान की बात नहीं करते, रस और आनंद को मिला देते हैं। कला उनके यहाँ ध्यान और मानववाद की अपेक्षा तीव्र आकांक्षाओं का अवगुंठन है। और सच्चा सौन्दर्य वही है जो पारलौकिक सौन्दर्य की चेतना जाग्रत करे।

सामाजिक और अस्तित्ववादी स्थितियों से प्रायः वीतराग रवीन्द्रनाथ कहते हैं : "हमारे जीवन की भावनात्मक और काल्पनिक पृष्ठभूमि में यथार्थ का सही स्वरूप उजागर होता है ... आनन्द इसमें कि हम सत्य को उस रूप में प्रकट करें, जिस रूप में हमारा उससे परिचय है ... जहाँ अभिव्यक्ति सम्भव न हो, वहाँ चुप रहना ही बेहतर ... परावादी आलोचक की समस्या यही है कि वह उसकी बात करता है जो शब्दातीत है।"

यहाँ हमें शिलर का भी ध्यान आता है। इसमें कोई शक नहीं कि इन सब चिंतन धाराओं का विलयन इस विराट उद्देश्य में होता है कि स्रष्टा का मन समझा जा सके। अंतर्दृष्टिमूलक आनन्द और व्यक्तित्व-विस्तृति ही इस कल्पनामूलक (एसेमप्लास्टिक) रूमानी दर्शन का सार है जो उपयोगितावादी निकष के बाहर झाँकना चाहता है। एक ख़ास तरह की रहस्यवादी चेतना से अनुस्यूत रवीन्द्रनाथ मानते हैं कि कारयित्री आत्मा द्वारा दैवी यथार्थ का निरुपण ही कला है और इसके औजार हैं प्रज्ञा, संतोष और परमार्थ दर्शन। जो अतिरिक्त और तर्कातीत है, वही इनकी केन्द्रस्थ विषयवस्तु है : "संपूर्ण मानवीय दर्शन और विज्ञान, संपूर्ण मानवीय सभ्यता 'अतिरिक्त' (सरप्लस) के इर्द-गिर्द घूमती है। मार्क्स यदि 'अतिरिक्त' का भौतिक स्वरूप विरूपित करते हैं तो रवीन्द्रनाथ आधिभौतिक। इनके अनुसार इसी देवी अतिरेक के स्पर्श से मनुष्य लौकिक यथार्थ के पार चला जाता है – ख़ासकर कलाकार। रॉबर्ट फ्रॉस्ट भी कला को 'अतिरेक' ही मानते हैं – उसकी सौंदर्य चेतना और शिक्षा का अतिरेक। पुराने शास्त्रज्ञों की तरह रवीन्द्रनाथ नहीं कहते 'देवम भूतका देवम जायेत' या प्लोटिनस की तरह ही कि आँखें सूर्य को तभी देखती हैं जब स्वयं सूर्य हो जाती है, दैवी सौंदर्य का विश्लेषण तभी हो सकता है जब मनुष्य दैवी सृष्टि का एक हिस्सा बन जाए।' आनन्द के प्रति यह आग्रह रवीन्द्रनाथ को विश्लेषणात्मक नहीं होने देता। रवीन्द्रनाथ की कला-चेतना सर्जनात्मक आवेग की व्याख्या तो करती है, पर कलात्मक उपादान या कला-प्रक्रिया पर कोई टिप्पणी नहीं करती, और न ही माध्यम, संचरण, बनावट, बुनावट, शिल्प आदि पर। मनोवैज्ञानिक ऊर्जाओं का यह ऐसा चुम्बकीय क्षेत्र है, जिसमें पारभौतिक ऊर्जाओं के आकर्षण की शक्ति है, पर यह पारभौतिक सुन्दर ही होगा, यह आवश्यक नहीं। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है : "ज़रूरी नहीं कि मेरा मित्र सुन्दर ही हो या उपयोगी, या समृद्ध या महान, पर मेरा यथार्थ तो वह है ही। उसी में मैं अपने आनन्द का विस्तार पाता हूँ। इसके बारे में इससे अधिक क्या कहा जा सकता है ?"

यह रवीन्द्रनाथ को सौन्दर्यानुभूति के निकट ले जाता है। यह कहने में उन्हें कोई संकोच नहीं कि – 'आनन्द ही साहित्य की आत्मा है – निरपेक्ष आनन्द।'

पर यह आनन्द और सौन्दर्य-लाभ एक ख़ास तरह के अनुशासन की माँग करते हैं। एक पुरानी कहावत के अनुसार मुक्त आत्मा ही आनन्दित आत्मा है।

इसी में कला की विजय है और उसकी ''सार्थकता कि वह आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बनती है जिसका दूसरा नाम मुक्ति है : अनुभवमूलक ज्ञान से मुक्ति, और शायद इतिहास के तनावों और संत्रासों से भी। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में 'बुद्धि को निर्बन्ध कर परम यथार्थ का संस्पर्श कराना कलाओं का उद्देश्य है ... सारी कलाओं और साहित्य का लक्ष्य है सत्य के मौलिक आनन्द और अमरता का रस जगाना !' सत्य की तरह सौन्दर्य भी मुक्त करता है। यदि यह सच है तो कला को कोई और बचाव नहीं चाहिए – विशेषतः बाँझ आत्माओं और षड्यन्त्रप्रिय, मशीनी लोगों के इस युग में। मोह-माया से जकड़े इस संसार के अहमन्य प्राणी सौन्दर्य के साम्राज्य से बहिष्कृत ही रह जाते हैं।

जैसा हमने देखा, रवीन्द्रनाथ के अनुसार कला का उद्देश्य, सौन्दर्याभिव्यक्ति नहीं, आत्माभिव्यक्ति है, पर फलाँ-फलाँ व्यक्ति की नहीं, सबकी। किसी कलाकृति में सबसे महत्त्वपूर्ण बात होती है आत्मसाक्षात्कार। यही कला को शाश्वतता से जोड़ती है। रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में – 'जीवन अनवरत सर्जना है क्योंकि इसमें वह 'अतिरिक्त' समाया है जो काल और स्थान की सीमाओं के परे है, आत्मसाक्षात्कार के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति के साहसिक खेल खेलता हुआ, बेचैन ... 'उनका सिद्धांत कम-से-कम यही है और इसकी अपनी एक अलग आप्लावनकारी लय भी है। स्पष्ट है कि जिस आत्मा की बात यहाँ हो रही है, वह सामान्य आवश्कताओं और बीच आवेगों से बँधा रहनेवाला विलगाववादी अहं नहीं, मनुष्य की सच्ची आत्मा है जो हमेशा सबमें एक ही होती है और (इतिहास को छोड़ भी दें तो) मनुष्य, प्रकृति और आत्मा की मूलभूत एकता का प्रमाण है। (इतिहास की कविता मनुष्य की सबसे बड़ी अर्गला है शायद।)

अब जो सच हो, इसके साथ ही हम रवीन्द्रनाथ के मूल दर्शन बिन्दु 'आनन्द' पर पहुँचते हैं। जैसा कि वे कहते हैं : 'उस एकता के आनन्द तक कला हमें पहुँचाती है जिसमें यह दुनिया मानवीय महत्त्व की जान पड़े।' अपनी सत्ता-मीमांसा में वे इसे 'आनन्द योग' कहते हैं, और इसकी व्याख्या इस तरह करते हैं : "भीतर के यथार्थ की चेतना मेरे बाहर के यथार्थ से सम्पर्क का माध्यम बनती है : कल्पना और गहन अनुभूति ... जब तक कि 'अहम्' अपना विस्तार न जान जाए और अपनी अनन्तता, जब तक यह सचमुच उस पार के भी दर्शन कर ले।" संक्षेप में, कला पुल है, छोटे 'अहम्' और बड़े 'अहम्' के बीच का पुल।

ऐसी सहानुभूति और कल्पना, परिष्कार और सार्वभौमिकता के बावजूद ऐतिहासिक और चित्तगत सीमाओं से रवीन्द्रनाथ बच नहीं पाते। यह सौन्दर्यशास्त्र

अनूठा न सही, संवेदनशील अवश्य है। कभी-कभी वे पूर्व-पश्चिम की द्विभाजनमूलक संवेदना के साथ भी बात करते हैं, ख़ासकर जब वे सामान्यीकरण करते हैं : "पश्चिम के मनुष्य की आत्मा में विश्वास हो सकता है, पर वह यह नहीं मानता कि विश्व की भी आत्मा होती है।" मोटे तौर पर, और सांख्यिकी के धरातल पर यह सच सिद्ध हो सकता है, विशेषकर औद्योगिक सभ्यता के बाद के पश्चिम के लिए सबसे बड़ा दाय, सच पूछें तो, प्रदूषण ही है। पर अंग्रेज़ी रोमांटिक के इतने बड़े अनुयायी नहीं तो मित्र होने के बावजूद रवीन्द्रनाथ वड्सवर्थ, शैली और कॉलरिज को कैसे भूल सके !

कला को पारलौकिक संदेशवाहक और चित्त-विस्तार का माध्यम मानना रवीन्द्रनाथ को नीतिशास्त्र की गवेषणा का अवसर देता है, पर पारम्परिक दृष्टि से नहीं, अलग ही तरह से। बिना किसी ख़ास नीतिमूलक सिद्धांत की उद्भावना के, कला नीतिशास्त्र के लक्ष्य हासिल कर लेती है – सहानुभूति और निरपेक्षता। नीतिवाद की रुक्षता शिवमूलक कल्पना आप-ही-आप झाड़ देती है। क्या कल्पना सचमुच मायाविनी है, परम मायावी की अनुगूँज या प्रतिच्छाया : 'ब्रह्मस्वादसहोदरम् ? पर इस ब्रह्मशास्त्र की सरहदें छूने में आत्मा काँप जाती है, और यह रोमांटिक विचारधारा के समीप भी पड़ता है : "कवि मानव-साम्राज्य को एक सूत्र में बाँध देता है।" स्वप्न दर्शन के प्रकर्ष–रवीन्द्रनाथ, व्यक्तिगत सत्यों को समाज पर लागू करते हैं। रवीन्द्रनाथ की बात मानें तो : "जीवन के सभी प्रकोष्ठों में स्वाधीनता के विरुद्ध सबसे बड़ी बाधा है व्यक्तियों और समूहों की स्वार्थप्रियता ! सभ्यताएँ तब नष्ट हो जाती हैं, जब स्वार्थान्ध आवेग एक नैतिक आदर्श पर हावी हो जाते हैं। सभ्यताओं के विनाश के पीछे कोई नीति रखी जा सकती है – यह सन्देहास्पद है, पर कम-से-कम यह तो सन्देहातीत है कि सबसे अलग-थलग रहने से मनुष्य का सच्चा स्वरूप नहीं निखरता, और कल्पना वह संकाय है जो मनुष्य दृष्टि में उसका महत्तर, अनन्त स्वरूप उद्घाटित करती है। वह सभ्यता भ्रष्ट ही होगी जहाँ सौन्दर्य-बोध का यह पक्ष अपनी अपील खो चुका है। इस अपील में एक ख़ास तरह की विश्वसनीयता नहीं तो दिलासा तो है ही।

अतिरेक का देवदूत – कला ही हमारी मानवता को परिभाषित करती है, हमारे सामाजिक सरोकार बढ़ाती है और हमें ऊँचा तथा आगे बढ़ती है। हमारे सच्चे स्वरूप का प्रतीक, यह सभ्यता और संस्कृति की हृदयस्थली भी है। ऐसे उपादानों का संकेत कोई कवि-जिह्वा ही दे सकती है –

"हे सुन्दरता, स्वनामधन्य,
जगत् तुम्हारा प्रकाशमय

हो उठेगा एक दिन,
और तुम्हारे बाद नहीं होगी किसी
देवता की स्तुति,
एक बार तुम्हें देखना, जानना काफ़ी है –
एक बार में फूँक देती है मृत्यु
जीवन की लौ।
फिर भी आशिर्सिंचित हैं हम सब।'

शिक्षा

ब्रिटिशकालीन भारत में सर्जनात्मक शैक्षिक दर्शन स्वभावतः ग़ैर-सरकारी सूत्रों का दाय था। स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीअरविन्द और महात्मा गाँधी– एक तरह से सभी बाहर के थे। उनके चिन्तन और कृतित्व का तुलनात्मक अध्ययन अपने-आप में एक बड़ी शिक्षा ही थी। घर की स्मृति से विह्वल रहते थे रवीन्द्रनाथ। आजीवन जड़ों तक लौटकर अपनी शाखाएँ ऊपर और चारों तरफ़ फैलाने की बात उन्होंने की। उनके पत्र, आलेख और व्याख्यान देश-विदेश में उनके मन की यह तीव्र आकांक्षा स्फुटित करते रहे। उनके चिन्तन का सामान्य सारांश भी पूर्णताकामी शिक्षा के उनके आदर्श को प्रतिबिंबित करता है।

रवीन्द्रनाथ के शिक्षा-सम्बन्धी विचार उनकी किशोरावस्था में ही पल्लवित-पुष्पित होने लगे थे। 1877 में माइकेल मधुसूदन दत्त के महाकाव्य की समीक्षा करते हुए उन्होंने शिक्षा-नीति पर भी उँगली उठायी थी कि ख़ाक डालने योग्य है ऐसी शिक्षा-नीति, जो न रुचि को परिमार्जित करती है, और न स्वतंत्र चिन्तन ही विकसित करती है। सांस्कृतिक जड़ों से विच्छिन्न करनेवाली इस शिक्षा-नीति का मूलभूत दोष रवीन्द्रनाथ यह मानते थे कि यह बालकों तक नीरस ढंग से घोर उपयोगितावादी दर्शन पहुँचा देने की व्यवस्था-भर करती है ('शिक्षार हेर-फेर' 1892)। विदेशी माध्यम की शिक्षा से भी उनका स्पष्ट विरोध था। भगिनी निवेदिता की तरह वे भी यह मानते थे कि भारत में शिक्षा के नाम पर जड़ों से काट देने का षड्यन्त्र चलता है। ऐसा नहीं कि किसी स्तर पर, विशेषतः विज्ञान के अध्ययन के लिए, विदेशी भाषा सीखने से इनका विरोध था, पर 1901 में जब शान्तिनिकेतन की शुरूआत हुई तो पुनरुद्धारवाद के प्रभाव से ये मुक्त न थे, जात्रा, कथाकथन, लोक-नाट्य, श्रुति-संस्थान आदि के द्वारा उन्होंने उसे आश्रमों जैसा वातावरण दिया, जो हिन्दू-रिवाज़ों की शक्ल लिए हुए था। शिक्षा की अनौपचारिक विधियाँ रटन्त विद्या नहीं–विद्या वह है जो मनुष्य की कारयित्री ऊर्जा जगाए। इस संदर्भ में अपनी जड़ों के पुनरुद्धार में वे आइरिशों के महत्त्वपूर्ण योगदान की चर्चा करते थे। सामान्य स्कूल विद्यालय नहीं, कारख़ाने हैं, ऐसा उनका मानना था। हालाँकि लैटिन और

ग्रीक का मार्जन होता रहा, पर पढ़ाई के माध्यम के रूप में आइरिश बरक़रार रहीं, यह इससे विकास का कारण भी था। जातीय विद्यालय पर लिखते हुए उन्होंने बताया कि अंग्रेज़ी भाषा के बंधनों से मुक्त होकर हम कम-से-कम आज़ाद होने के लिए तो आज़ाद हो गए हैं और दुनिया के यथार्थ को अपने ढंग से देखने के योग्य। (जातीय विद्यालय, 1906)

ग्रामीण परिवेश ही रवीन्द्रनाथ का आदर्श था। और वे कहते थे कि पुरानी भारतीय संस्कृति का पालना शहर नहीं, गाँव थे। थोड़े दिनों बाद उन्होंने तपोवन का आदर्श पल्लवित किया। उनका मानना था कि विश्व-प्रेम की उदात्तता वैसे ही वातावरण में पैदा हो सकती है : पर विश्व के एकात्म होने का अर्थ विविधता मिटा देना या अपनी पहचान खो देना नहीं है : "वे दिन आ गये हैं जब मानवता अपनी विजय-यात्रा पर निकलेगी – रथारूढ़।"

भारतीय सभ्यता आदिम नहीं थी, गहरी थी क्योंकि इसमें आन्तरिकता थी। इस तर्क के समर्थन में वे संस्कृत नाटक और कविता के अलावा धूसर उपनिषदों के भी उद्धरण देते हैं। आश्रम तब शान्ति के मधुर संगीत में 'आवृत्त' था जो रवीन्द्रनाथ के चित्त को बहुत प्रिय थी, हालाँकि खुद वे, एक दूसरी सतह पर, हमेशा बेचैन रहते थे। रवीन्द्रनाथ के अनुसार, जीवन और शिक्षा का उद्देश्य एक-दूसरे पर हावी हो जाना नहीं है, एक-दूसरे के साथ सामंजस्य की स्थापना है। भारतीय अस्मिता और इतिहास के प्रति निष्ठावान होने का अर्थ कट्टरपंथी होना भी नहीं है। अग्रघर्षण भारतीय संस्कृति की भाषा में कभी नहीं समाया। न आक्रमकता, न ही संकीर्णता का प्रचार रवीन्द्रनाथ करते हैं, हमेशा की तरह पूर्णता, मुक्ति और विश्वबन्धुत्व उनकी मुख्य तलाश रही है। भविष्य के प्रति उनकी आस्था अगाध थी। अब एक संस्था, कोई संस्था, किस हदतक ये आदर्श पूरे कर सकती है, यह एक अलग बात हुई।

हिन्दू विश्वविद्यालयवाले अपने भाषण (1910) में रवीन्द्रनाथ ने बिना संकीर्ण दायरों में बँधे अपनी राष्ट्रीय अस्मिता टटोलने की आवश्यकता पर बल दिया। एकता को मान देने का सही तरीक़ा है कि जहाँ अलगाव है, वहाँ अलगाव इंगित कर दीजिए। इसी को इवान इलि ने बाद में यों कहा कि एकता बाँटती है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में, "आज समस्या विभेद मिटा देना नहीं, विभेद बरक़रार रखते हुए एकता स्थापित करना है जो सचमुच कठिन है।" प्रत्येक प्राप्य ज्ञान इतना पल्लवित-पुष्पित हो रहा है, पर हमारी शैक्षिक नीतियाँ हर उस ज्ञानक्षेत्र की तलाश में हैं जिस पर देशी मुहर न हो। पर इसका जवाब क्षुद्र, संकीर्ण मनोवृत्ति नहीं। एक बौद्धिक वैज्ञानिक, ऐतिहासिक दृष्टिकोण अनिवार्य है। अपने उत्कर्ष काल में हिन्दू समाज किसी तरह की संकीर्ण रूढ़ियों और संस्थाओं के आबद्ध नहीं था। हिन्दुत्व विराट

है, कई तरह की अंतर्धाराएँ इसमें समाविष्ट हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा "हम हिन्दुत्व को नष्ट नहीं करना चाहते, उसका दायरा बढ़ाना चाहते है।" हमारी नवीनीकृत ऊर्जा हमें विवश करती है कि हम विश्वव्यापी सहायता और अंतर्राष्ट्रीय दायित्व स्वीकार करें : मानवता के देवपुरुष की रथ-यात्रा का समय आ गया है। यह सम्बोधन उनके पूर्ववर्ती विचारों के निकट था, पर समय के साथ इसमें परिवर्तन आया और फिर हिन्दुत्व से ज़्यादा मानव-धर्म इनके प्रवचनों में छाने लगा।

1912 में 'धार्मिक शिक्षा' पर लिखते हुए उन्होंने बताया कि इसे पाने का सबसे अच्छा तरीक़ा जीवन और संवेदनाओं को एकाकार करना है, किसी पुनीत हठधर्मिता से कहीं अधिक यही कारगर होगा। नागर समाज के गोद-लिए बच्चों से *ज़्यादा भारत और माँ प्रकृति के चिरस्थायी सत्यों में रवीन्द्रनाथ की आस्था* थी। और अपने विद्यालय के लिए उन्होंने एक शिक्षक को आश्वस्त किया कि उनके छात्र प्रकृति की क्रोड़ में आनन्द-योग भोगते हैं। उनके लिए और उनके छात्रों के लिए यही धर्म है। जहाँ तक शिक्षा की प्रचलित नीतियों का प्रश्न है, स्कूल के शिक्षक बच्चों पर एक पाठ्यक्रम थोप सकते हैं, वे उनकी आत्मा का आयतन नहीं बढ़ा सकते। कोई कविराज अपनी टिकियों से हमें बचा नहीं सकता। हमें क्या चाहिए और कैसे – इस बारे में हमें बिल्कुल साफ़ होना चाहिए। 'जानने' से अधिक 'होने' की आवश्यकता हमें है। पुराने समय में पराविद्या मार्ग और ध्येय के पूर्ण और सामंजस्यपूर्ण विलय का आश्वासन देती थी। मनुष्य और समाज और सभ्यता के नियमों का एक एकीकृत सिद्धान्त था। 1913 के अपने एक पत्र में उन्होंने दोहराया – मशीन जीवन की सृष्टि नहीं कर सकती। जाग्रत अध्येता का सम्मान करना हमें सीखना चाहिए। ज्ञान और मूल्य-बोध का संवहन अध्येता के प्रति सम्मान की अपेक्षा करता है। बच्चों के व्यक्तित्व के प्रति हमारे मन में सम्मान होना चाहिए – एक शिक्षक को उन्होंने लिखा था। रवीन्द्रनाथ को बच्चों पर इतना भरोसा था कि एक समय उन्होंने यह भी सलाह रखी कि प्रशासन की आंशिक ज़िम्मेदारी तो बच्चों के हाथों में छोड़नी ही चाहिए। यह सलाह अपने समय से बहुत आगे की थी। दूरवर्ती इलिनॉयस से उन्होंने इस बात पर प्रसन्नता ज़ाहिर की कि यहाँ बच्चों के पास साग-सब्जियों का अपना एक बगीचा है।

विपन्न-विरत लोगों का पक्षधर होने के नाते स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन रवीन्द्रनाथ ने हमेशा किया, हालाँकि खुद अपनी बेटियों को वे स्कूल नहीं भेज पाए। पर यह एक ऐसा कार्य था जो स्त्रियों को खुद करना था – बिना यह सोचे कि लोग इस स्वतन्त्रता का क्या अर्थ लेते हैं। स्त्रियों की शिक्षा पुरुषों से थोड़ी भिन्न अवश्य होगी और ख़ास तरह के हुनर सिखाएगी। हम सरकार से सहायता की अपील हमेशा करते हैं, और खुद इस दिशा में कोई दिलचस्पी नहीं लेते और

शहरों को अस्तित्व का केन्द्र और मूल्यों का स्रोत समझते हैं। शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी होने के कारण छात्रों की स्थिति 'इम्तिहान का दंगल' जीतने वाले पहलवानों की-सी हो गयी है। और इसीलिए, ऊँची शिक्षा के बावजूद हम स्वतंत्र विचारों से विरत हैं।

थोड़े दिनों बाद उन्होंने एक मज़ेदार किंतु भयावह नीति-कथा भारत की शिक्षा-व्यवस्था पर लिखी। इसका नाम था 'तोते का प्रशिक्षण'। लम्बे त्रासद प्रशिक्षण के बाद पिंजड़े में तोता मर जाता है :

"किसी को ज़रा भी यह आभास नहीं कि यह कैसे हुआ। और सबसे पहले यह समाचार फैलानेवाला उसका आदि-निन्दक ही है – राजा का भतीजा। राजा ने भतीजे को बुलाया –
"प्रिय भ्रातृज, यह मैं क्या सुन रहा हूँ ?"
भतीजे ने जवाब दिया, "महोदय चिड़िया की शिक्षा सम्पन्न हुई !"
"क्या वह फुदकती है ?" राजा ने पूछा।
"बिल्कुल नहीं !" भतीजे ने गौरवान्वित होकर उत्तर दिया।
"क्या वह उड़ती है ?" राजा ने पूछा।
"नहीं तो !"
"चिड़िया को यहाँ ले आओ।" राजा ने आज्ञा दी।

पुलिस के प्रधान और अन्य गण-मुनियों के साथ चिड़िया राजा के सामने लायी गयी। अपने हाथों से उन्होंने उसका शिथिल शरीर छुआ। कोई आवाज़ नहीं आयी– सिवा उन पाठ्य पुस्तकों के पन्ने फड़फड़ाने की आवाज़ के जिनसे उसका भेजा भरा गया था।

उस साल बैसाख में व्यर्थ ही नये किसलय आये, दक्षिण से आकांक्षा – समीर उठा, जंगल के सुरभित आकाश पर लहराया, पर व्यर्थ ही।"

यह एक प्रतिनिधि, किंतु भयावह अभ्यारोपण था। हम रो नहीं सकते, इसलिए 'फॉरेन' मुस्कान चिपका लेते हैं। व्यक्तित्वहीन कुन्दों का उद्घाटन करनेवाली औपनिवेशिक शिक्षा-नीति पर इससे करारा व्यंग्य शायद ही हुआ हो ! रवीन्द्रनाथ अंग्रेज़ी सीखने के ख़िलाफ़ थे, ऐसा भी नहीं है। उनका मंतव्य सिर्फ़ इतना था कि मातृभाषा पहले आनी चाहिए।

पर उनके विचार सतत विकासमान थे – बाल-विद्यालय और मातृभाषा संवरण के पार भी उनके सपने जाते थे। भारतीय संस्कृति केन्द्र और प्राच्य विश्वविद्यालय की भी उनकी योजनाएँ थीं, जहाँ सभी विचारक और विद्वान एकत्र हों, पश्चिम भी आ मिले और नये मूल्य निर्मित हों। ऐसी शिक्षा को संकीर्ण चारदीवारियों या

व्यवसायधर्मिता से जोड़कर नहीं देखा जा सकता जो लिपिक, चिकित्सक, वकील और अभियन्ता का निरपेक्ष उत्पादन किए जाए। रवीन्द्रनाथ का मानववाद पूर्ण मानव के आदर्श पर आधारित था। हमारे विश्वविद्यालयों की जड़ें हमारी मिट्टी में नहीं और अधिकांशतः ये उन परावलम्बी ताक़तों द्वारा गढ़े हुए हैं जो अपने को संभ्रान्त कहती हैं। सच्ची शिक्षा का सम्बन्ध लोगों की समस्याओं से होता है और राष्ट्रीय पर्यावरण से। इस शब्द के चलन के पहले से रवीन्द्रनाथ 'पारिस्थितिकी' थे। उनके खूबसूरत पदविन्यासों में एक है विश्वभारती – अंतर्राष्ट्रीय बौद्धिक संगठन, जो हर तरह की पूर्णता का आकांक्षी था।

भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा के खोखलेपन की एक सच्ची, हृदयविदारक कहानी रवीन्द्रनाथ सुनाते थे। इलाहाबाद का एक तेजस्वी छात्र नदी की परिभाषा जानता था, पर जब उसे किसी नदी का नाम बताने को कहा गया, तो वह लड़खड़ा गया (हालाँकि गंगा इलाहाबाद होकर ही तो बहती है) यही है तोता-रटंत। भारत में वैदिक, बौद्ध, जैन और पौराणिक परम्पराएँ एक साथ विराजमान हैं, और इन्हें साथ-साथ पढ़ना भी चाहिए। इसके अलावा इस्लाम, ईसाई धर्म और आधुनिक पश्चिमी दर्शन भी पढ़ने चाहिए। यूरोप को दुनिया का गुरु बनाने में यूरोप की तीव्र आकांक्षा और साहसिक वृत्ति का बड़ा हाथ था, सिलहट में अपने छात्रों से उन्होंने कहा कि फाँकीबाज़ी की महान वृत्ति उत्कृष्टता की हमारी सम्भावनाओं को पूरी तरह ध्वस्त कर डालती है। हम बहुत थोड़े-से संतुष्ट हो जाते हैं। हमारी दरिद्रता के मूल में हमारी आत्मिक दरिद्रता है। सत्य से निर्वाह के हमारे तरीके मिथ्यापूर्ण हैं। 1926 में शान्तिनिकेतन कलकत्ता विश्वविद्यालय के अधीन आ गया – इस समझौते पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए रवीन्द्रनाथ ने कहा कि इससे शान्तिनिकेतन की नींव कमज़ोर हुई है। (उसके बाद 1951 में शान्तिनिकेतन के विश्वभारती के रूप में राष्ट्रीय विश्वविद्यालय बनने पर क्या हुआ, इसकी अलग कहानी है)

1921 में विश्वभारती का विधिवत् उद्घाटन हुआ। उसके छोटे-से, पर स्मरणीय स्मृति लेख में एक अद्भुत आदर्श समाहित था : "विभिन्न दृष्टिकोणों से सत्य के विभिन्न पक्षों को आत्मसात किए मानव-मन के अध्ययन हेतु !" ये शब्द उनके हों या नहीं, पर उनकी गहनतम महत्त्वाकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब अवश्य हैं।

अपने मानस-पुत्र के लिए रवीन्द्रनाथ का यह प्रेम कभी कम नहीं हुआ। उन्हें यह कहते देख किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि : "विश्वभारती भारतवर्ष के सर्वतोन्मुखी बौद्धिक भण्डार का प्रतिनिधि है और उसके इस संकल्प का कि औरों को अपनी संस्कृति के बेहतरीन पक्ष का सार देश और दूसरों से उनका

सर्वोत्तम ग्रहण करेगा।"

समस्त आदर्शानुराग के बावजूद कवि तो कवि थे और कुछ अव्यावहारिकता भी उनमें थी। 1925 में यूरोप यात्रा के दौरान उन्होंने जहाज़ पर लिखा – "मेरे मत में शिक्षा-नीति को वैरागी के पथ का अनुसरण करना चाहिए। जीवन-प्रवाह के अनुरूप शिक्षा होनी चाहिए। हमें चाहिए कि अपने छात्रों के साथ हम अज्ञात की तलाश में निकल पड़ें।" ये काव्यात्मक उद्‌गार हैं, किसी संस्था पर उन्हें घटित करना सम्भव नहीं दीखता। कोई भी विद्यालय, चाहे वह उन्हीं का क्यों न हो और कितना भी मुक्त क्यों न हो, एक कवि की आत्मा को बदलते रंगों का अनुसरण नहीं कर सकता।

1926 में "कवि का विद्यालय" शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण मसविदा सामने आया। रवीन्द्रनाथ के आदर्शों का अच्छा सार-संक्षेप यह प्रस्तुत करता है। रवीन्द्रनाथ लिखते हैं कि लोग कवि से क्षमा-याचना की उम्मीद करते हैं कि उसकी इस कविता का माध्यम शब्द क्यों नहीं। इसके उत्तर में वे अपने बचपन के अनुभव का जिक्र करते हैं। वे कालिदास की भी चर्चा करते हैं, राजदरबार में जिन्हें आश्रम का स्वर्गसुख छिन जाना बहुत खलता होगा। वे स्वीकार करते हैं कि ऐसे ही आश्रम की कल्पना उनके मन में भी थी। पर उनका आश्रम भौतिक प्रतिबिम्ब न होकर आधुनिक जीवन की माँगों के बीच से गुज़रते आश्रम का नया रूप होगा। यह आश्चर्यजनक है (या कि शायद नहीं भी), कि कैसे कलकत्ते की अपनी नागर पृष्ठभूमि के बावजूद आश्रम की पारम्परिक छवि के लिए रवीन्द्रनाथ के मन में इतना आकर्षण था। इसे उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया : "मैं यह विश्वास किए बिना नहीं रह सकता कि मेरे भारतीय संस्कारों ने मेरे भीतर अपने दर्शन का दाय छोड़ा है जो वस्तुजगत से सामंजस्य स्थापित करने में अपनी सार्थकता समझता है।"

और वे बच्चों की बातों से बात शुरू करते हैं। बच्चे स्वभावतः प्रकृति के प्रति अनुरक्त होते हैं, "संवेदनाओं से वन्य और बुद्धि से सभ्य हमें होना चाहिए, प्रकृति के सम्मुख प्राकृतिक, मानवीय जगत् के सम्मुख मानवीय सन्तुलन का सपना इस स्कूल में चरितार्थ होगा, ऐसा वे मानते थे। यह स्कूल "निर्दोष बच्चों का आदर्श स्वर्ग-लोक नहीं।" लेकिन उन्होंने कोशिश ज़रूर की कि बच्चों की आत्मा को यहाँ संकीर्ण दायरों से ऊपर उठने का और सम्यक् विकास का उपयुक्त वातावरण अवश्य मिले। यह संकीर्णता ही आज की सर्वाधिक भयानक दृष्टिहीनता है। लगातार यह कहना वे नहीं भूलते कि स्कूल का विकास उनके जीवन का विकास है। (यहाँ प्रश्न यह है कि दोनों साथ बढ़े या एक का विकास दूसरे पर हावी हो गया ?)

ग्रामीण विकास के इनके उत्साह से ज़ाहिर है कि विपन्नों और दलितों की

सुध इन्हें हमेशा बनी रही। अपने पुत्र के नाम एक पत्र में वे बग़ल के गाँव के संथाल बच्चों की विद्यालय के उत्सवों में भागीदारी की बात कहते हैं। पर यह योजना सफल नहीं हो सकी। ललित कलाओं पर इनका चिन्तन अधिक पल्लवित-पुष्पित हुआ, इन कलाओं को वे व्यक्तित्व की भाषा कहते थे। यदि शान्तिनिकेतन मुख्यतः सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं से ही एकाकार हो पाया तो इसके एक नहीं, अनेक कारण हैं। इस संदर्भ में श्री नन्दलाल बोस के अधीन चल रहे 'कला भवन' का भी बहुत महत्त्व है।

1930 में रवीन्द्रनाथ रूस गये। रामानेन्द चटर्जी के नाम एक पत्र में उन्होंने लिखा – "रूस जाने के पीछे मेरा सिर्फ़ एक उद्देश्य है – अपनी आँखों से शिक्षा का प्रचार-प्रसार और उसके प्रभाव देखना" रूसी लोगों को एक भाषण में उन्होंने बताया कि रूसी शिक्षा व्यवस्था की बहुत-सी बातें उनके अपने विद्यालय से मिलती हैं। यह एक विवादास्पद बात है। यहाँ संभवतः वे लोकशिक्षा और 'सर्वकर्मेर योग' (जहाँ हर व्यक्ति विभिन्न गतिविधियों में हिस्सा ले सकता है) के अपने आदर्शों की ओर इशारा कर रहे थे।

1933 में कलकत्ता और कोलम्बो विश्वविद्यालय के इनके व्याख्यानों से भी इनके मौलिक तत्त्वों की पुष्टि हुई। श्रीलंका में उन्होंने यह बात कही थी कि सच्चा शिक्षक "एक ऐसा दीप होता है जो और असंख्य दीप प्रज्ज्वलित करता है।" कभी-कभी आशा चिन्तामिश्रित रहती थी, जैसे कुछ पत्रों में वे हमेशा ही संगठन के प्रति चिन्तन के अपने मूलतत्त्व दोहराते थे। उस समय का ध्यान कर, जब वे खुद दुनिया में न होंगे, उन्होंने एक शिष्य से कहा : "उस समय वह ऊर्जा बनाए रखना कठिन होगा जो संस्था को जिलाए रखे। यदि तुम सामने आए तो यह कमी पूरी हो सकती है।" यह एक परेशान करनेवाला 'यदि' है। उस संगठन में कई विरोधी भी थे, जिनकी निष्ठा कहीं और थी। जब उन्हें पता चला कि उनका एक उच्च पदावस्थित प्रियपात्र लंदन मैट्रिकुलेशन की योजना पर विचार कर रहा है, वे 'ऐंग्लो बंगाली वर्गाभिमान' पर बोलने के लिए विवश हुए।

उसी साल (1933 में) संयुक्त बंगाल के शिक्षामंत्री के नाम अपने पत्र में विपन्न बहुसंख्यकों की अनौपचारिक शिक्षा की एक योजना उन्होंने रखी। नये शिक्षा आयोग के सम्मुख एक भाषण में देश की दुखद अवस्था पर उन्होंने चिन्ता व्यक्त की।

बच्चे हमेशा उनके विचारों के केन्द्र में रहे। 'आश्रम की शिक्षा' (1936) नामक एक आलेख में वे लिखते हैं कि जिसमें शिशुसुलभ सरलता न हो, वह व्यक्ति शिक्षक होने लायक़ है ही नहीं। रवीन्द्रनाथ विवेक के पक्षधर थे, उनके लिए आदर्श शिक्षक एक उदार साधु था।

मृत्यु के कुछ महीने पहले (1941 के) अपने अन्तिम सार्वजनिक व्याख्यान

'सभ्यता का संकट' में उन्होंने बड़ी तिक्तता से ब्रिटिश शिक्षा-नीति से रूसी शिक्षा-नीति का वैषम्य उजागर किया। 19 फ़रवरी, 1940 में महात्मा गाँधी को रवीन्द्रनाथ ने विश्वभारती के संरक्षण के लिए एक चिट्ठी दी थी। स्वतन्त्रता के बाद शिक्षामंत्री को महात्मा जी ने वह चिट्ठी दिखायी और उसके परिणाम सर्वविदित हैं। विडम्बना देखिए कि विश्वभारती राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था थी, इसलिए उसे राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का दर्जा मिला और बस। क्या यह कवि के सपनों की मृत्यु नहीं थी ?

इस सरल आख्यान से इतना तो पता चलता ही है कि भले ही इसकी शिक्षा-नीति मनमौज़ी हो, पर यह संस्था रवीन्द्रनाथ की महीयसी आत्मा की जीवन-तरंग थी। हालाँकि इसे आशानुरूप सफलताएँ नहीं मिलीं, पर इसका महत्त्व अक्षुण्ण है। उन्होंने इसके माध्यम से इतने बारीक मुद्दे उठाए जो सामान्य जनजीवन की 'समझ' के परे था, पर बालकों को उपयुक्त संस्कार और सौन्दर्यबोध इसने दिया। रवीन्द्रनाथ के पुण्य-स्पर्श के बिना हमारा जीवन अधूरा है।

रवीन्द्रनाथ का प्रयोग, एक साथ ही परम्परा का स्वीकार भी था, नकार भी। एक एकाकी, सजल आत्मा के महाकाव्य के रूप में इसने अपनी ख़ूराक़ कवि के अनवरत भावावेग से ली। इसके लिए बहुत साहस की अपेक्षा थी। कविता की अपनी सीमाएँ होती हैं और रवीन्द्रनाथ बेकार ही गुरुदास बनर्जी की इस टिप्पणी का बुरा मान गये थे कि उनकी विश्वदृष्टि 'कविजनोचित' अर्थात् अव्यावहारिक है। पच्चासी वर्षों का इसका इतिहास क्या प्रमाणित करता है : कविता जीना कविता बाँचने से अधिक कठिन है। बच्चों के आनन्द और उनकी स्वाधीनता से रवीन्द्रनाथ का सरोकार सच्चा था। पर किस हद तक यह संस्था उनका प्रतिनिधित्व करती है ? रवीन्द्रनाथ बार-बार अपने दुखद बचपन का हवाला देते हैं। क्या इस संवेदनशील पौधे का त्रास कमतर संवेदनशील बहुसंख्यक समाज पर भी लागू होता है ? क्या शान्तिनिकेतन के छात्रों का चयन संवेदनशीलता के आधार पर होता है या होता था ? रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में निरपेक्षता और सामंजस्य ही जीवन और शिक्षा का उद्देश्य था। मानव प्रकृति, आधुनिक इतिहास और सभ्यता के उनके अपने आदर्श थे। कितनी दूर तक बहुसंख्यक छात्रों या शिक्षकों को ये बातें समझ में आ सकती हैं ? उनके विद्यालय के छात्र स्वप्नशिशु ही कहे जाएँगे !

फिर तपोवन या आश्रम की आधारशिला क्या सुदृढ़ थी ? क्या शान्तिनिकेतन किसी अर्थ में सचमुच आश्रम है या था ? कल्पना का अर्थ चरितार्थ करना नहीं है। क्या संवेदना साधना की क्षति-पूर्ति कर सकती है ? प्रकृति के रूमानी दर्शन के अपने ख़तरे हैं। ब्रह्मचर्य विद्यालय की परिष्कारधर्मी बालिका विद्यालय में तब्दीली

का अपना नीतिशास्त्र है। उनके आदर्शों के सर्वाधिक कटु आलोचक ने इस आश्रम को 'मायावी नमूना' कहा है। और इससे असहमत होना मुश्किल है। इसकी जो कमियाँ हैं, व्यवस्थामूलक हैं। पुराने समय में वैयक्तिक सम्बन्ध अन्य कमियों की क्षतिपूर्ति कर लेते थे। और कुछ लोग जो कवि से जुड़े, वे अपने आप में भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। पर ज़्यादातर लोग उनका साथ छोड़ गये या उन्हें छोड़ना पड़ा ! इस तरह से सर्वाधिक तेजस्वी पुरुषों में एक थे सतीशचंद्र राय, जो कम उम्र में ही परलोक सिधार गये। यह कहना कठिन है कि उस समय सिर्फ़ बंगाल या पूरे भारत का सर्वोत्तम जनसमुदाय कवि के विद्यालय से आ जुड़ा। कवि की उपस्थिति से बहुत अंतर पड़ता था, पर कितने दिन कोई संख्या इस अवलम्ब के सहारे जीती ?

रवीन्द्रनाथ अपने तईं कहते थे कि विद्यालय भीतर ही भीतर बढ़ रहा है। इससे अधिक सत्यांश उनकी इस उक्ति में था कि विद्यालय का विकास उनका अपना विकास है। जिस बात पर वे ग़ौर न कर सके, वह यह कि वे खुद तो विकसित होते गये, पर विद्यालय का विकास अवरुद्ध हो गया। जिस क्रम में वे चीज़ों को प्यार करते थे, उनकी संस्था नहीं करती थी – बच्चे, गाँव, कला, राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, विश्व-मैत्री– यह स्नेह-क्रम संस्था का नहीं था। पर रवीन्द्र को यह सोचना अच्छा लगता था कि आश्रम इन आदर्शों के रंग में धीरे-धीरे रँगता चला गया है।

शान्तिनिकेतन नामक इस प्रयोग के केन्द्र में सिर्फ़ एक व्यक्ति था। दरअसल यह संस्था रवीन्द्रनाथ के परिवर्तनमान, रंग-बिरंगे व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया-मात्र थी। कवि के बाद इसका क्या होना था ? शान्तिनिकेतन परम्परा की बात करता है, पर स्वयं इसका कोई पट्टशिष्य न हो पाया जो इसकी परम्परा आगे बढ़ाता। इसकी एकमात्र परम्परा रवीन्द्रनाथ की वैयक्तिक प्रतिभा थी। येट्स ब्राउन ने ठीक ही कहा कि शान्तिनिकेतन के पीछे लोकप्रिय आन्दोलन का समर्थन न था, था तो बस एक बड़ी आत्मा का अवलम्ब !

आज रवीन्द्रनाथ के प्रति सिर्फ़ वाचिक आस्था शेष रही है। उन्हें 'गुरुदेव' कहकर छुट्टी पा लेने का चलन हो गया है। पर शिष्य कहाँ हैं ? प्रशंसा के पुल बाँधना आसान है, कार्यानुसरण कठिन। समझौतों की अपनी एक करुणगाथा है। पहले मैट्रिकुलेशन, फिर स्नातक तक की पढ़ाई और अब केन्द्रीय विश्वविद्यालय। स्वाधीनता, परिपूर्णता और व्यापकता के साहसिक प्रयाणों के स्थान पर 1951 के बाद विश्वभारती ने न्यूनतम प्रतिरोध का रास्ता चुन लिया। सुरक्षा की तलाश में सामान्य विश्वविद्यालयों की नियति इसने अख़्तियार कर ली। कवि के साहसिक अभियानों की पुनर्सिद्धि के स्थान पर इसने उनके आदर्शों को पीठ दिखा दी।

रवीन्द्रनाथ की ज़्यादातर आशाओं की धीरे-धीरे तिलांजलि दे दी गयी। रवीन्द्रनाथ ने बहुत-से मोर्चों पर पहल की थी, विश्वभारती सबमें पीछे हट गया। आज की स्थिति यह है कि वह अपने 'कार्यक्रमों' के लिए अधिक जाना जाता है, गम्भीर उद्देश्यों के लिए कम। नये-नये विभाग खुलते जाने का अर्थ यह नहीं कि विश्वविद्यालय निरन्तर विकासमान है। रवीन्द्रनाथ के प्रयोगों या शान्तिनिकेतन की साधना की सही आज़माइश शायद हो नहीं पायी। क्या पता, कब इसका अभ्युदय होगा, पर निराशा में डूबने से अच्छा है आशान्वित रहना।

पर सन्देहवादी, बुद्धिवादी जन भी प्रणेता को साहस का श्रेय तो देंगे ही। महान विचारों का संस्थायन कठिन है, सभी जानते हैं। पेरिक्लिज़ ने बहुत पहले कहा था – "संस्थाएँ महापुरुषों की समाधि होती है।" रवीन्द्रनाथ का सपना रूढ़िबद्ध प्रशासकीय दबावों में आकर ढह भले गया हो, सूक्ष्म, अगोचर रूप में इसके उद्देश्य कारगर हैं : इससे किसको इन्कार हो सकता है। एक मूक प्रेरणा के रूप में भारत और विश्व-भर की मनीषा को यह प्रभावित करता रहा है। तर्क नहीं, उपलब्धि नहीं, पर इसका अनुरोध अक्षुण्ण है। महती ऊँचाइयों के खोए संकल्प और असंख्य सम्भावनाओं का जादू एक अजीब तरह की करुणा और रहस्य के साथ इसे घेरे बैठे हैं। स्वर्णिम विगत का ध्यान हमें भावुक बना देता है।

कवि की आस्था सबको सहज ही छू लेती है : "बच्चे जीवित होते हैं, उन वयस्कों की तुलना में जीवन इनके पास ज़्यादा होता है जो अपनी आदतों के खोल में इन्हें कस मारते हैं। इसलिए उनके यथोचित मानसिक स्वास्थ्य और विकास के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें अपने पाठों के लिए स्कूल न भेजा जाए, भेजा जाए एक ऐसी दुनिया में जिसकी आधारभूमि प्रेम हो। यह एक ऐसा आरम्भ हो जहाँ प्राकृतिक शान्ति में लोग एकत्र हुए हों, जहाँ जीवन सिर्फ़ ध्यानमय न हो, कर्ममय भी हो, जहाँ बच्चों को संकुचित देश-प्रेम घुट्टी में न पिलाया जाता हो, बल्कि यह सिखाया जाता हो कि सारा विश्व ही विधाता का साम्राज्य है, विश्व-बंधुत्व ही हमारा आदर्श, सूर्योदय-सूर्यास्त, सितारों का मूक सौन्दर्य, फल-फूलों का महोत्सव और इन सबके बीच यह प्यारी-सी अनुभूति कि बच्चे और बूढ़े, शिष्य और शिक्षक एक ही मंच बैठकर शाश्वत जीवन का प्रसाद चख रहे हैं। यदि रवीन्द्रनाथ का विद्यालयविषयक यह आदर्श है तो इसके सौन्दर्य और दुनिया के प्रच्छन्न विधायकों के बीच इसके अक्षुण्ण स्थान पर किसे सन्देह हो सकता है ? कवि का विद्यालय, शान्तिनिकेतन, कभी पूर्णता के शिखर पर नहीं पहुँचा, क्योंकि यह मानवता के अनन्त तट पर विश्व की अजन्मी आत्मा में सतत निर्माणाधीन है।

निष्कर्षातीत

पीछे मुड़कर देखें तो रवीन्द्रनाथ का वैचित्र्य, प्राचुर्य तथा गतिमयता हमें चमत्कृत कर देते है। जीवन के अन्त तक रवीन्द्रनाथ विकासमान रहे, और किसी ने ठीक ही कहा है कि अस्सी की आयु में उनका देहान्त भी असामयिक ही था। किसी अन्य समकालीन लेखक की तुलना में उनका योगदान बहुत अधिक है। वे सिर्फ़ लेखक ही नहीं, सम्पूर्ण कलाकार थे। आधुनिक भारतीय साहित्य, अस्मिता और सभ्यता के निर्माताओं में वे थे ; उनके अग्निशिखाधर्मी व्यक्तित्व की आँच में किसने अपने हाथ नहीं सेंके ? विविध विखण्डनों के इस युग में उनकी बहुधर्मी पूर्णता चकित करनेवाली है। रवीन्द्रनाथ का सम्पूर्ण वाङ्मय तो बहुतेरे नहीं पढ़ पायेंगे, पर उनकी चुनी हुई रचनाएँ भी उन्हें सदैव जीवित रखने के लिए पर्याप्त हैं। हाँ, इनमें विशिष्ट क्या है, इस बारे में अलग-अलग राय हो सकती है।

पर एक बात तय है। अनेक विधाओं में उन्होंने लिखा ज़रूर पर मूल रूप में स्वयं को कवि ही मानते थे – 'आमि कवि'। कवि ही क्यों, वे तो कवियों के कवि थे; सन्त नहीं, क़वि। कविताओं के रचयिता से अधिक गीतों के गायक। 'मानव का धर्म' इनकी प्रतिनिधि कृति नहीं। कवि का भाषण से क्या वास्ता। निरर्थक के गर्जन-तर्जन से भरे अपने समय के काव्य-माध्यम को उन्होंने जुही के फूलों की कमनायता से एक नये ढंग की चुनौती दी। "आज सेई सृष्टिर आह्वान घोषिछए कमान ?" ऐसी थी कवि की आस्था। अलग-अलग भाव-भाषा में लिखे उनके दो राष्ट्र गीत 'जन-गण-मन' तथा 'सोनार बाङ्ला-उनकी प्रतिभा के दो आयाम प्रस्तुत करते हैं। पर वे कवि-भर न थे, सहज कवि : उनकी कविता कई तरह के दुरूह चमत्कारों से भरी है। रवीन्द्रनाथ की आलोचना तो आज प्रमुख भारतीय उद्योग बन गयी है, पर सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व का सही आकलन करनेवाला परिपक्व आलोचक अभी तक सामने नहीं आया।

अनन्त, विपुल और (बहुधा) अनुपम कारयित्री प्रतिभा के पीछे जो व्यक्ति खड़ा है – उसके व्यक्तित्व और कृतित्व पर भरोसा करना ससीम-असीम के बीच की कोई अद्भुत लीला जैसा दीखता है ! एक ख़ास रूमानी लक्षण। घटना-बहुल जीवन

क्षेत्रीय धारा से बढ़कर अनन्त क्षितिज तक जा पहुँचनेवाला व्यक्तित्व। उसकी निष्ठा किसके प्रति अधिक प्रगाढ़ थी : आकाश के प्रति कि नीड़ के, पंखों के प्रति कि जड़ों के ? 'अतिरेक' और 'सुदूर' का अन्वेषक यह कवि पृथ्वी का कवि भी था – दुनिया से जुड़ा हुआ, पर दुनियावी नहीं। धार्मिक कम, प्रकृतिपूजक अधिक।

'गीतांजलि' के बाद की रचनाएँ तो इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। नीरद चन्द्र चौधुरी ने दो रवीन्द्रनाथों की चर्चा की है। उनके मूल्यविधान और सम्बोधन में अचानक बड़ा परिवर्तन आया। अपने कुछ देशवासियों को वे राष्ट्रीय से अधिक अंतर्राष्ट्रीय होते दीखे। उनकी पहचान भारत के भ्रमणशील सांस्कृतिक राजदूत की बन गयी : "तुमने मेरी पहचान करायी है अनजान जनों से ... और मुझे अजनबियों का है भाई बनाया।" उस समय रवीन्द्रनाथ के सिवा शायद ही किसी को यह कहने का अधिकार था! तोकियो से तेहरान, बर्लिन से बोस्टन तक वह अकेला हंस लोक प्रमुख के रूप में अपनी छवि का समायोजन कैसे कर पाया होगा – यह भी एक पहेली ही है।

वे राजनीति छोड़ सकते थे (क्या उन्होंने छोड़ी ?) पर ग्राम (पल्ली)सेवा और शिक्षा के अपने हृदयस्थ आदर्श नहीं। कविता के सिवा भी उनकी रुचि के कई आयाम थे। इक़बाल ने हल्के-फुल्के ढंग से उन्हें 'बुलबुल' कहा था, पर वे भूल गये थे कि इस बुलबुल का पंख-विस्तार किसी गरुड़ कासा है। एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। जलियाँवाला नरसंहार के बाद जिस साहसपूर्ण तुर्शी से उन्होंने वाइसरॉय को नाइटहुड की उपाधि लौटायी, वह साधारण व्यक्ति के वश का नहीं था। वाइसरॉय को सम्बोधित उनकी चिट्ठी हृदय-रक्त से उत्कीर्ण एक वीर काव्य है। जीवन के पूर्वार्द्ध में ही हम उन्हें कहता हुआ पाते हैं : "सिर्फ मसृण ध्वनियाँ चिह्नित करके मेरा जीवन विफल न करो।" रवीन्द्रनाथ की दुःस्वप्निल कलाकृतियाँ और अपेक्षाकृत कम चर्चित आत्मोत्सर्गी, आत्मालोचक, अस्तित्ववादी परवर्ती कविताएँ बताती हैं कि वे रसातल से अनभिज्ञ न थे। वे उदारतावादियों और रूमानियों में अन्तिम थे – उनके मोहभंग के कई बिन्दु थे और यह स्वाभाविक था। *'सभ्यता का संकट' में पश्चिम के प्रति मोहभंग प्रतिच्छायित है।* पूरब-पश्चिम-समागम का उनका स्वप्न-भंग एक सच्ची त्रासदी ही था। अन्त आते-आते उनका मत दृढ़ हो गया कि सच्चा मसीहा पूरब से आएगा– इस दरिद्र देश की मिट्टी से ही उठेगा। यह राष्ट्रवाद था या कुछ और ?

उनकी परिवर्तनशील कविता का लेखा-जोखा तो सम्भव नहीं। रवीन्द्रनाथ जैसी उद्दाम सृजनशीलता घेरे में बँध भी नहीं सकती। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'प्रभात संगीत' 'मानसी' नहीं है, 'मानसी' 'नैवेद्य' नहीं, 'नैवेद्य' 'बलाका'

नहीं, 'बलाका' 'पूरबी' नहीं, 'पूरबी' 'पुनश्च' नहीं, 'पुनश्च' 'प्रान्तिक' नहीं, 'प्रान्तिक' 'शेष लेखा' नहीं। उत्कर्ष कई हैं और सबको एक क्रम में सजाना आसान नहीं है। सब परवर्ती रचनाएँ श्रेष्ठ नहीं हैं, पर इतना अवश्य है कि 'गीतांजलि' से इतर और उससे अधिक महत्री भी इनकी काव्योपलब्धियाँ है। वहाँ भी – सारी धर्मचर्या के बावजूद – एक विरोधी तेवर अक्सर झलक जाता है : "छोड़ो यह भजन-भाव, जप-कीर्तन, खोलो आँखें – देखो, ईश्वर तुम्हारा नहीं है पास तुम्हारे।"

मन्दिर-मस्जिद-गिरजाघर का देवता नहीं, बल्कि स्वयं प्रकृति की दैवी चेतना ही उनसे खुलकर अपना दुख-सुख कहती जान पड़ती है। गोचारण-युग की स्फूर्तिदायक चेतना का उन्मीलन वे आधुनिक जीवन की भग्नावस्था के आलोचना-क्रम में करते हैं। आधुनिक जनजीवन और इतिहास की समस्याओं से वे उतने विमुख नहीं – 'मुझे फिरने दो', 'वे काम किए जाते है' आदि में एक अनवरत आत्म-विभाजन दीखता है, जिसे हल्का अपराध-बोध भी कह सकते हैं। खरी, साफ़, बोल-चाल की, अनलंकृत बाङ्ला भाषा में उनकी बाद की ये अंतर्मुखी, अंतर्दर्शी कविताएँ हैं जहाँ प्रकृति भी उदासीन, निर्दय और अक्षमाशील है। अंत समय में क्या कवि की आस्था डगमगा गयी थी ? अन्तिम प्रश्न 'कौन हो तुम' मानव-मात्र का यक्ष-प्रश्न दीखता है। सुधीन दत्त ने रवीन्द्रनाथ की दुनिया को परीलोक से तुलनीय बताया है। रवीन्द्रनाथ की यथार्थ-चेतना उजागर तभी होगी जब ऐसी भ्रान्त छायाएँ मिट जायें, पर यह अरावीन्द्रिक रवीन्द्र भी रवीन्द्र ही हैं। अधिक ऊँचाई पर साँस लेना कठिन होता है, पर वहाँ की हवा स्वच्छ होती है। रवीन्द्रनाथ के प्रति सही दृष्टि हम गहरे मन्थन पर ही पा सकते हैं। हमें उसी रवीन्द्रनाथ की प्राप्ति होगी, जिसके लायक़ हम हैं।

उनके नाटकों में गद्य, गीत और नृत्य – तीनों हैं। कभी अलग-अलग, कभी एक साथ। स्वभावतः कथ्य और शिल्प बदलते रहते हैं। नाट्यकार के रूप में गम्भीर क्लासिक रूपान्तरण, हृदयग्राही सम्वाद, सामाजिक कामदियाँ, स्थानीय प्रकृति तथा ऋतु-नाट्य-इन्होंने सब दिए हैं। प्रतीक नाट्य भी उन्होंने लिखे, पर मंचीय सफलता उन्हें नहीं मिली – क्योंकि उनमें बहुत अधिक तत्त्व-चर्चा थी। यांत्रिकीकरण की समस्या को निवेदित दो नाटक हैं : 'मुक्तधारा' तथा 'रक्तकरबी', पर इनमें निरूपित वैयक्तिक शहादत के आदर्श क्या समस्या का ही निदान है ? प्रतीक नाटकों में 'डाकघर' ही श्रेष्ठ दीखता है : 'दृश्य' 'अदृश्य' के अपने संतुलित-समायोजन के कारण यह नाटक विश्व-स्तर पर प्रतिष्ठित हो चुका है। अमर पीटर पैन नहीं – वह तो संवेदना से एकांतवास का त्रास झेलता हुआ एक सजग बाल-मन है। 'चित्रांगदा', 'चण्डालिका' तथा 'श्यामा' शीर्षक नाट्यत्रयी उनकी पूर्व नाट्य-कृतियों का भावोच्छल रूपान्तरण ही है : कथ्य है यह आदि प्रश्न कि मोह ही क्या मुक्ति नहीं है!-

उन्होंने 'बोउ ठाकुरानीर हाट', 'राजर्षि' आदि ऐतिहासिक रोमांसों से शुरू किया पर अपने उपन्यासों में अधिकाधिक सामाजिक यथार्थ डालने की भी कोशिश की। विवाहेतर संबंधों के विवादास्पद पक्ष छूकर छोड़ दिए। किसी भी त्रासदी से बचते रहे – यह एक त्रासदी ज़रूर है। 'नौकाडूबी' इसका ज्वलंत उदाहरण है। 'चोखेर बाली' की विनोदिनी संयस्त–सी हो जाती है। 'घरे-बाइरे' में विमला पति निखिलेश के पास लौट आती है, 'योगायोग' में कुमुदिनी पति मधुसूधन के पास, हालाँकि दोनों के बीच विवाह बंधन के सिवा कुछ भी नहीं है। परंपरावादियों को ये आधुनिक लगते हैं; आधुनिकों को परंपरावादी। सिस्टर निवेदिता के जीवन से प्रभावित 'गोरा' भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में आनंदमयी का आदर्श सामने रखता है। 'घरे-बाइरे' में वाचाल अराजकतावादी संदीप की तुलना में निखिलेश लेखक को प्रिय है। मूल और अंतिम में प्रति प्रत्यक्ष आग्रह 'चार अध्याय' को राजनीतिक उपाख्यान से अधिक प्रेम-कहानी सिद्ध करता है। राजनीतिक ऊहापोह से दूर 'शेषेर कविता' नीहाररंजन राय के शब्दों में काव्योपन्यास ही है। अमित की अर्थभारहीन दीप्ति और उच्छल जड़ाऊ कथनोपकथन पूरित तर्कावली उसका रचयिता माफ़ करता चलता है। शैली प्रतिपादन की दृष्टि से यह उपन्यास अत्याधुनिक और अनूठा ही है जहाँ अमित उनके उद्धरण ही नहीं देता, वृद्ध रवीन्द्रनाथ की खिल्ली भी उड़ाता है। अपने सहज उच्छल प्रवाह के कारण हर तरह की रूमानियत की यह प्रकट विदाई है। भगवान ही जाने अमित, केतकी की जोड़ी सुखी रहेगी कि नहीं पर लावण्य की अंतिम कविता प्राणवान है। 'दुई बोन' और 'मालंच' प्रेमजन्य ईर्ष्या के तटस्थ अध्ययन के सिवा भी बहुत कुछ हैं।

मानवीय करुणा में सहजस्नात रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ और सब विधाओं में उनके प्रयोगों की तुलना में सबसे सफल है। छोटी मिनी की शादी में 'काबुलीवाला' के अंतर्मन का दुख कैसे उभारता है। 'क्षुधित पाषण', 'तीन संगी' 'प्रयोगशाला' और 'शेष कथा' – सबका तत्त्वविमर्श अनुपम है और चरित्र-चित्रण भी।

कवि रवीन्द्रनाथ का धर्म क्या था ? उपनिषदों और भारतीय दर्शन पर उनका आलंबन शुरू में उन्हें पुनरुत्थानवादी बतलाता है, पर धीरे–धीरे उनकी चेतना का क्षितिज व्यापक हुआ, जैसा कि उन्होंने खुद लिखा है। जाति के भग्न मंदिर में ईश्वर आया .... "साधक का मूल यही अवधारणा है, कोई रीति-बोझिल पंथ नहीं। ईश और प्रकृति में से इनका रूझान किस ओर है ? क्या रवीन्द्रनाथ की अपनी प्रतिच्छाया, उनके ईश कभी सामाजिक यथार्थ हो पाएँगे, एकला (मा अकेला) चलनेवालों के धर्मावलम्बी बहुत तो नहीं हो सकते।"

रवीन्द्रनाथ की सौन्दर्य-चेतना शास्त्रबद्ध नहीं, 'अतिरिक के देवदूत' से आबद्ध

है। एकाकी प्रथम पुरुष-सम्मत उनका धर्म कला के 'क्यों' से अधिक 'कैसे' को निवेदित है। यथार्थ और आदर्श – दोनों में एक प्रतिस्पर्द्धा-सी दीखती है। रोमांटिक व्यक्ति की पकड़ से जगबीती कई बार छूट जाती है, क्योंकि वह मुख्यतः आपबीती सुनाता है। आनंद कुमारस्वामी की परम्परा-निष्ठा उनके जैसी है। ये इतने स्वच्छन्द थे कि किसी भी तरह कि प्रतिबद्धता से मुक्त ही रहे।

शिक्षक के रूप में रवीन्द्रनाथ बच्चों को कभी नहीं भूले। बच्चों, आनन्द, प्रेम और स्वातंत्र्य के लिए उनका सरोकार सच्चा था। उनकी आस्था प्रकृति में थी और कला में भी। शिक्षितों को देश की मिट्टी और ग्रामीण परिवेश से जुड़ा हुआ वे देखना चाहते थे – जड़ों से विच्छिन्न नहीं। महाविद्यालीय या विश्वविद्यालीय शिक्षा पर उनका उतना ज़ोर नहीं था। एक सांस्कृतिक केन्द्र के संधान की उनकी योजना थी, जहाँ विश्व-भर के कलाकार-चिन्तक एकत्र हो सकें। इस तरह की पूर्णतापेक्षी योजना का विद्यालयों के रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से एकसार होना तो असम्भव ही था; कभी-कभी ऐसा भी एहसास होता है कि सामान्य मिट्टी और सामान्य जनों के बीच संचारित होने के लिए उनकी योजनाएँ बनी भी नहीं थीं। जिस भारतीय पुनर्जागरण की छवि को 'शांतिनिकेतन' उजागर करता है, वह संकल्प भी इतने लेता है जितने पूरे नहीं किए जा सकते। एक स्वप्न-संधान की तरह रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द परिव्याप्त यह अवधारणा चित्ताकर्षक तो है, पर है असम्भव के ही निकट।

इस चामत्कारिक व्यक्तित्व को अन्ततः हम क्या समझें ? न वह व्यास हैं, न बुद्ध – मनुष्य और कलाकार – दोनों ही रूपों में इनकी सीमाएँ हैं। पर एक सामान्य सर्वेक्षण में इन सब बातों की चर्चा असंगत है। जो महत्त्वपूर्ण है, वह है उनकी बहुक्षेत्रव्यापी जटिल कारयित्री क्षमता। उनका व्यक्तित्व कृतित्व से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। "भारतीय स्वाधीनता के कारण के रूप में आप अकेले ही काफ़ी हैं", विल डूरां ने इनसे न्यूयार्क में कहा था। पर सच्चे और वास्तविक आकलन में ऐसे वक्तव्य शायद ही कोई मदद करें। चमत्कार-विदग्ध होना, व्यक्तित्व-वैभव में बहना पर्याप्त नहीं। मोहितलाल मजूमदार ठीक ही कहते हैं कि ज़्यादातर रावीन्द्रिक आलोचना समालोचना नहीं, सुलोचना है। प्रशंसकों, आसक्तों, आयोजकों और प्रचार-माध्यमों की टोली रवीन्द्रनाथ का जो बिम्ब उजागर करती है, सार्थक और सच्चे रवीन्द्रनाथ उसमें नहीं उभरते। कारयित्री क्षमता की कुंजी पाना कठिन है, खोज जारी रखना और कठिन : 'इस मृण्मय चोले में किसने मुझे पहचाना है ?' चिर विकासमान रवीन्द्रनाथ 'अभी नहीं, अभी नहीं' का भाव जगाते थे। उन्होंने सारा-का-सारा ही साहित्य में ढाल दिया, पर साहित्य से इतर भी उनमें बहुत-कुछ समाविष्ट था। उनकी अन्तिम दिनों की एक प्रार्थना उनके तथाकथित

'अहंहीन मैं' को निवेदित है :

"मैं का आँचल ढलने दो,
आने दो चेतनता की शुद्ध ज्योति
कुहेलिका चीरती –
दिखाती चेहरा
शाश्वत सत्य का।"

पर रवीन्द्रनाथ का असली चेहरा कौन पहचानेगा ? कुछ युगों के अनन्तर लोग आश्चर्य करेंगे कि ऐसा व्यक्ति धरती पर जन्मा था और हममें से ही एक था।

रवीन्द्रनाथ लिखते हैं

शुरू की एक झलक

जब मैं अट्ठारह वर्ष का था, धार्मिक चेतनता की वासन्ती बयार मेरे जीवन में पहली बार आयी और मेरी स्मृति में आध्यात्मिक वास्तविकता का सन्देश भरकर चली गयी। एक दिन जब मैं खड़ा-खड़ा सूर्योदय देख रहा था और पेड़ों के पीछे सूर्य अपनी किरणें बिखेर रहा था, मुझे अचानक लगा कि मेरी आँखों के सामने से एक पुरातन धुंध फट गयी और मेरे मुँह पर चमकता हुआ सूरज मुझे आनन्द की आन्तरिक ज्योति से भर गया। साधारणता की अदृश्य परत वस्तुओं तथा लौकिक जनों के ऊपर से हट गयी और उनका आंतरिक महत्त्व मेरे मन में प्रकाशमान हो गया। यही सौंदर्य की परिभाषा है। इस अनुभूति में जो स्मरणीय था – वह है मानव-सन्देश, सहसा मेरी चेतना का अतिमानवीय विस्तार। आश्चर्य के पहले दिन जो कविता मैंने लिखी, उसका शीर्षक है – 'प्रपात-जागरण'। प्रपात, जिसकी चेतना हिम-कुंठित-अलगाव में एक ओर जकड़ी पड़ी थी, सूर्य के स्पर्श से मुक्त प्रवाह में तरंगायित हो गया और अनन्त त्याग-क्रम में समुद्र से उसका महामिलन भी हुआ। चार दिन बाद यह अनुपम स्पन्दन धीमा पड़कर भी मेरी अंतर्दृष्टि पर टँगा रहा। अँधेरे में फिर से विश्व ने 'अपरिचय' का जामा पहन लिया।

(जीवन-स्मृति)।

मैं एक कवि हूँ

इस आनन्द का अतिरेक सृष्टि के चित्त में प्रवाहित कर उसे अस्तित्व के हर पक्ष पर व्यक्त करना मेरे श्रम का प्रेरक रहा है। मानव को उसके मूल लक्ष्य तक ले जाने का दावा मैं नहीं करता। सहयात्री होना ही मेरे लिए अनुपम आनन्द का स्रोत है। कुछ ने मुझे आधिभौतिकतावादी कहा है, कुछ ने स्कूल मास्टर की सन्देहास्पद भूमिका मुझ पर थोपी है। पर मेरे क्रीड़ा-प्रेम ने मुझे शाश्वत भगोड़ा

बना रखा है। शिक्षक का मुकुट मेरे लिए नहीं। मुझे अब भी भोर का जगना याद है – सुबह का धुँधलका चीरता प्रकाश कैसे जीवन-यात्रा पर निकल पड़ता था। वह विस्मय आज तक नहीं छीजा। अस्तित्व की जड़ों के रहस्य-समेत हृदय का कमलनिकुंज खिला और काँपा है। इसी ने मुझे चिरपथिक बना छोड़ा, सर्वदा चंचल।

और अब जब मैं सत्तर का हुआ, दोस्तों को मेरे 'हल्के-फुल्के' मिज़ाज से शिकायत है। इससे उनके औचित्य-बोध को चोट पहुँचती है। पर मेरे पास व्यर्थ उन कामों में अपना समय गँवाने का अवकाश नहीं, जिनकी ओर मेरे मन में सहज प्रेरणा नहीं। सत्तर वर्ष के मेरे कड़वे-मीठे जीवनानुभवों का निष्कर्ष यह है कि सर्वदा परिवर्तनशील की संगति के लिए मैं बना था। मैं नहीं जानता कि मेरी कोई उपलब्धि है भी कि नहीं – कुछ मूल्यवान अपने पीछे मैं छोड़ भी पाऊँगा कि नहीं। स्थायित्व की मेरी आकांक्षा भी नहीं। ईश्वर लीलाएँ करता है, पर बिना मोह के; और क्रीड़ा-घर जो लीलाओं के लिए बनाता है उसके प्रति भी उसे कोई मोह नहीं। वह उसे यों ही सड़क-किनारे बिखर जाने देता है। हमारे आम्र-निकुंज में बनी अल्पना को कल आँधी के पंखों ने पोंछ डाला, और आज नयी अल्पना बनानी होगी। यदि हमने दुनिया के घरौंदे में खिलौने रख दिये हैं तो उन्हें स्थायी रूप से सुरक्षित रखे जाने का मेरा कोई आग्रह नहीं। आनेवाली पीढ़ियाँ उन्हें कूड़े के ढेर पर प्रतिष्ठित पाएँगी। मेरे लिए इतना ही बहुत है कि थोड़े समय के लिए मैं इन पुतलों में प्राण-संचार कर पाया और उन्हें उस स्पन्दन से भर पाया, जो सृष्टि-मात्र के मूल में है। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

शान्तिनिकेतन आश्रम का अभिव्यक्ति-पक्ष ही मेरा है; कार्यान्वयन पक्ष प्रभावी विद्वानों के हाथ में है। मेरी कोशिश सिर्फ़ यही थी कि मैं अभिव्यक्ति और स्वरूप की मानवीय क्षुधा शान्त कर सकूँ। मैंने एक तपोवन का संधान करना चाहा था। शहर के भयावह घरों में नहीं, आकाश के खुले वितान के नीचे सुबह से शाम तक मैं इन लड़के-लड़कियों के खेल का साथी बनना चाहता था। इस सहानुभूत जीवन के आनन्द की, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही मेरा एकमात्र अभीष्ट थी। दूसरी उपयोगितावादी गतिविधियाँ भी मुझे स्वभावतः चलानी पड़ीं, पर इसमें आप मुझे नहीं पाइएगा। मैं वहीं हूँ, जहाँ जीवन स्वयं को अभिव्यक्त करने के जतन कर रहा है। जो कक्षाएँ यहाँ चलती है, जो कक्षाएँ मैं लेता हूँ – उनका महत्त्व वैसा नहीं। मेरा सच्चा कार्य रहा है प्रकृति के विशाल क्रीड़ांगन में बचपन की कोमल कमनीयता का उन्मेष, उसे खिलने देने का यत्न, ज्ञान की पहली किरण का क्षितिज के पार चटकना। इसके बिना यह दैनन्दिनी, नियमावली और पाठ्यक्रम के निरर्थक प्रपंचों में बह जाता। मेरा आह्लाद, मेरी पूर्णता अदृश्य लीलाओं के प्रति नवांकुरों के मन में संवेदना का संचार है और उन्हें जीवन-नृत्य के साथ एकलय करना।

इससे अधिक गम्भीर होना मेरे वश में नहीं है। सांसारिक बंधनों से लीलाधर ने कृपापूर्वक मुझे मुक्ति दे दी है। जो मुझे नीचे की पंक्ति में बिठाना चाहते हैं, उनसे मैं कह दूँ कि मेरी जगह वही है – धरती की गोद। इन पेड़ों, इन जंगलों में, इस धूल, इस पृथ्वी और तृणदल में मैंने अपना जीवन उड़ेला है। जो धरती की आत्मा के निकट हैं, जो उससे ही बने, उसी में ढले हैं, जो अपना अन्तिम विराम उसी में पाएँगे, मैं उन सबका मित्र हूँ। में कवि हूँ।

– 'आमि कवि'– (सत्तरवें जन्मदिन के वक्तव्य के अंश)

भारतीय इतिहास की एक झलक

भारतीय इतिहास सामाजिक संगठन में मानवीय आस्था की यांत्रिक चेतना तथा मनुष्य की स्वाधीनताकामी और अभिव्यक्तिपरक कारयित्री ऊर्जा के बीच संघर्ष का इतिहास है। हमें ध्यान यह रखना चाहिए कि परवर्ती धारा अभी भारत में जीवित है कि नहीं।

मुझे भारत से प्यार इसलिए नहीं है कि मैं एक भौगोलिक इकाई के रूप में इसका अभिनन्दन करता हूँ, इसलिए भी नहीं कि मुझे इसकी मिट्टी में जन्म लेने का अवसर मिला, बल्कि इसलिए कि लाखों उतार-चढ़ाव के बावजूद इसने उद्भासित चेतनावाले अपने आदि-पुरुषों की वाणी स्मृति-कोष में अक्षुण्ण रखी है।

सम्मान-वापसी

महामहिम,

स्थानीय विक्षोभों को दबाने के लिए जिस हद तक सख़्त तरीके अपनाए गये हैं, उन्होंने हमारे मस्तिष्क में ब्रिटिश राज्य की विवश प्रजा के रूप में हमारी स्थिति एक झटके के साथ उजागर कर दी है। निकटवर्ती और दूरवर्ती एकाध अपवाद छोड़कर सभ्य प्रशासन के इतिहास में निरुपाय लोगों पर असंगत ढंग से बरसायी गयी इस सज़ा का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। निहत्थी और निरुपाय जनता पर यह प्रहार उस शक्ति द्वारा हुआ, जिसकी राज्य-व्यवस्था मानव-जीवन को मिटाने में भयानकता की हद तक सक्षम है – इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम बस इस बात पर विशेष ज़ोर देना चाहते हैं कि इस सिलसिले में किसी भी राजनीतिक औचित्य की दुहाई नहीं जा सकती, नैतिक औचित्य की तो बात ही छोड़ दी जाए। पंजाब में हमारे भाइयों के अपमान और उनकी प्रतारणाओं के ब्योरे–मुँह में कपड़े

ठूँसकर पैदा की गयी शान्ति से – किसी भी तरह रिसते-रिसाते आज देश के कोने-कोने में पहुँच चुके हैं, पर लोगों के हृदय में धधकी सार्वभौम व्यथा की शासकों को कोई परवाह नहीं – शायद वे हमें ऐसा मज़ा चखाने के लिए एक-दूसरे को बधाई देते फिर रहे हों। ज़्यादातर आंग्ल भारतीय अख़बारों ने इस नृशंसता की तारीफ़ की है ; और कुछ ने तो हमारी तकलीफ़ों का मज़ाक़ भी उड़ाया है – और इस पर भी सरकार चुप है – पीड़ा और न्याय की हर पुकार का गला घोंटती हुई। यह जानते हुए कि न्याय कि अपीलें बेकार जा रही हैं और सामान्यतः शालीन रहनेवाली हमारी इस सरकार की आँखों में प्रतिशोध की ज्वाला उतर रही है – जो आसानी से उदार हो सकती थी – अपने देश के लिए मैं इतना तो कर ही सकता हूँ कि पीड़ा में स्तब्ध खड़े अपने देशवासियों की ओर से – दण्ड के सारे ख़तरे अपने सिर लेते हुए – एक स्पष्ट प्रतिकार व्यक्त करूँ। समय अब ऐसा आ गया है कि पुरस्कार के तमाम पदक मौजूदा अपमान के संदर्भ में असंगत हो गये हैं और शर्मिन्दगी और घनी करते हैं। अपनी ओर से हर विशिष्ट सम्मान से विरत मैं, उन देशवासियों की ओर खड़ा होना चाहता हूँ जो अपनी तथाकथित महत्त्वहीनता के कारण अमानवीय ढंग का तिरस्कार सहते हैं। ये ही कारण हैं, जिनसे विवश होकर – पर्याप्त सम्मान और पछतावे के साथ – मैं महामहिम से निवेदन करता हूँ कि वे 'नाइटहुट' की मेरी वह उपाधि लौटा लें, जिसे आपके पूर्ववर्ती शासक के हाथों से ग्रहण करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था और जिनके उदात्त चित्त के लिए मेरे मन में अब भी गहरा सम्मान है।

आपका विश्वासपात्र,
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कलकत्ता,
6, द्वारिकानाथ ठाकुर पथ
मई 30, 1919

वह स्रोत

किसी पुराने वैधानिक दस्तावेज़ की तरह भारत की सही सम्पदा लोहे के सन्दूक़ में बन्द नहीं थी। भारत की सच्ची अभिव्यक्ति इसके मुक्त और स्वच्छन्द दान में थी। इसके सांस्कृतिक जीवन का अतिरेक जो हर तरफ़ बिखरा हुआ था, इसके व्यक्तित्व का सार था। दान की क्षमता के कारण ही हम बाहर के आदमी को अपना कहने का अधिकार पाते हैं और भूगोल की सीमाएँ लाँघते हैं। इसलिए यदि हम जानना चाहें कि भारत की सच्ची सम्पदा किस चीज़ में निहित है, तो हमें जलीय सीमाएँ पार कर आत्मत्याग के दूरस्थ क्षेत्रों तक पहुँचना होगा। भारत के

बाहर से हम भारत की सच्ची सौम्यता माप सकते हैं जिसे हम आधुनिक इतिहास के गर्दो-गुबार के कारण देख नहीं पाते।

हमारा मध्यकालीन इतिहास भी इसका गवाह है। मध्यकाल में हिन्दुओं और विजेता मुसलमानों के बीच एक धार्मिक संघर्ष था, पर उस समय भी हम सन्तों और भक्तों की एक ऐसी क़तार अपने सामने पाते हैं (जिनमें बहुत-से मुसलमान भी हैं) जो वैयक्तिक सम्बन्धों के बल पर धार्मिक मतान्तर की खाई पाटने में समर्थ हुए। वे राजनेता नहीं थे और अवसरवादिता पर आधारित तथाकथित राजनीतिक एकता का यथार्थ स्वप्न में भी उन्हें स्वीकार्य नहीं था। वे वहाँ गये जहाँ मानवता अपनी एकता का सामान्य और अपरिवर्तनशील आधार पाती है, और अपने मूलभूत सिद्धान्त के रूप में उन्होंने वह सत्य स्वीकार किया जो सबको अपने ही एक अंश के रूप में देखने की शिक्षा देता है। उस समय अनेक ऐसे नायक थे, जिनके नाम विदेशी नज़रिए से लिखी गई हमारी इतिहास की पुस्तकों में दर्ज हैं। फिर भी उनकी गौरव-गाथा धूल के ढेर में दब गयी है; जबकि उन संतों और भक्तों का अमर सन्देश आज तक भारतीय मानस के लहू के साथ एकसार है। यदि हम उस स्रोत से प्रेरणा ग्रहण करें, तो हमारी राजनीति और अर्थनीति भी बेहतर होगी और सामान्य कार्यप्रणाली भी निखर उठेगी।

और अधिक समंजन प्रतीक्षित

उसका दृष्टिकोण उस गृहस्वामिनी जैसा था, जिसे अलग-अलग आदतों और आवश्यकताओंवाले अतिथियों को ढंग से समंजित करना हो। यह उन अनन्त जटिलताओं को जन्म देता है, जिनका समाधान न सिर्फ़ बुद्धिमत्ता की अपेक्षा करता है बल्कि सहानुभूति और इस समझदारी की भी कि मानव-मात्र एक है। प्रभुमयता की यह समदर्शी दृष्टि प्रतिष्ठित करने में, मानव-मानव के बीच की दूरियाँ पाटने में उपनिषद् काल से लेकर अब तक अनेक आध्यात्मिक गुरुओं का योगदान रहा है। दरअसल हमारा इतिहास राजवंशों के उत्थान-पतन या राजनीतिक प्रभुत्व का रहा है। हमारे देश में उन दिनों के, उस ढंग के दस्तावेज़ घृणास्पद समझकर भुला दिए गये। हमारे जन-मन के सच्चे इतिहास का प्रतिनिधित्व वे किसी भी तरह नहीं करते। हमारा इतिहास सामाजिक जीवन और आध्यात्मिक आदर्शों का इतिहास है।

पर हमें लगता है कि हमारा काम अभी अधूरा है। विश्व की बाढ़ हमारे ऊपर से गुज़री है, अनेक नये तत्त्वों का समावेश भी हुआ पर है, और वृहत्तर समंजन प्रतीक्षित हैं।

(राष्ट्रीयता)

भारतीय संस्कृति का केन्द्र

इसी तरह हमारी भौतिक साधनहीनता वैयक्तिक शक्तियों के समागम से ही दूर की जा सकती है और हमारी सांस्कृतिक संस्था, हमारा सांस्कृतिक केन्द्र आर्थिक सहयोग की नीति पर गठित होना चाहिए। इसे सिर्फ़ आदेश ही नहीं देने चाहिए, जीवन भी जीना चाहिए; सिर्फ़ मननशील नहीं, सृजनशील भी होना चाहिए। तपोवन जो हमारे नैसर्गिक विश्वविद्यालय थे, जीवन से कटे हुए नहीं थे, और जो आध्यात्मिक शिक्षा विद्यार्थियों को वहाँ मिलती थी, वह उस आध्यात्मिक जीवन का हिस्सा थी जो पूरे जीवन से एकलय था। हमारे सांस्कृतिक केन्द्र को हमारे बौद्धिक जीवन का केन्द्र-मात्र नहीं, आर्थिक जीवन की भी धुरी बनना चाहिए। उसका अस्तित्व-मात्र सहकारी सिद्धान्त पर आधारित उन औद्योगिक नियोजनों की सफलता पर निर्भर करता है, जो शिक्षकों और छात्रों को एक जीते-जागते बन्धन में एकसूत्र करती हैं।

जड़ों की ओर लौटते हुए

अपने लड़कपन के उन क्षणों की याद करते हुए, जब मेरा मन धीर भाव से आकाश और प्रकाश की विशाल अनुभूति में तिरता हुआ-सा जान पड़ता था, मुझे बरबस यह ध्यान आता है कि मेरे भारतीय वंशानुक्रम ने मेरे अस्तित्व में उस गहन दर्शन का दाय भरा है जो प्रकृति से एकाकार होने को ही पूर्णता का मार्ग जानता है। वह हमारे भीतर मुक्ति की तीव्र आकांक्षा जगाता है – मुक्ति, जो मानव-विरचित संसार में नहीं, ब्रह्माण्ड की गहराई में मिलती है; अग्नि, जल और वृक्ष, हर गतिमान और विकासमान वस्तु में अंतर्युक्त दिव्यता के नमन की हममें प्रेरणा भरती है। जड़ों की ओर लौटने की आकांक्षा विकसित करनेवाली मुक्ति की स्मृति में ही मेरे विद्यालय की नींव पड़ी है।

(एक कवि का विद्यालय)

वातावरण

इसके पहले कि मैं अपनी बात समाप्त करूँ, हमारे शैक्षिक कार्यक्रम के एक महत्त्वपूर्ण विषय के संदर्भ में कुछ बातें ! बच्चों का अवचेतन संवेदनशील होता है। ओर पेड़ों की तरह वह अपनी खुराक वातावरण से ग्रहण करता है। उनके लिए यह नियमों और रीतियों, साधनों, पाठ्य-पुस्तकों और पाठों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। मैंने

अपने विद्यालय में एक परिवेश तैयार करने का प्रयास किया, यही हमारा मुख्य कार्य था। शैक्षिक संस्थानों में हमारी वृत्तियाँ ऐसी विकसित होनी चाहिए कि हमारा मानस स्वतंत्र हो, कला की दुनिया के अनुरूप हमारी कल्पना हो ओर हमारी सहानुभूति मानवीय सम्बन्धों की दिशा में विकसित रहे। यह अन्तिम बात तो विदेशों का भूगोल जानने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(एक कवि की पाठशाला)

आन्तरिक शक्ति

एक और बात मुझे आप लोगों से कहनी है। हमें यह जरूर देखना है कि जनता के बीच से ही एक शक्ति क्रियाशील हो। हम एक या दो गाँवों से शुरूआत करेंगे। यदि हम एक गाँव को भी विवशता और अज्ञान के शिकंजों से छुड़ा पाए, तो पूरे भारत के सामने एक आदर्श स्थापित हो जाएगा। यही मुझे उस समय भी लगा था और यही मैं अभी तक सोचता हूँ। कछ गाँवों का ही इस तरह पुनर्निर्माण होने दें और में कहूँगा – मेरा भारत यही है। सच्चे भारत के अन्वेषण का यही रास्ता है।

(नगर और गाँव)

मानव धर्म

हमारे मस्तिष्क की भावात्मक और काल्पनिक पृष्ठभूमि पर यथार्थ प्रकट होता है। हमें लगता है कि हम ज्ञान के एक विशेष क्षेत्र में जा पहुँचे। मेरी भीतरी यथार्थ चेतना सहयोग के लिए मेरी बाहरी यथार्थ चेतना का स्पर्श चाहती है। कला में हम इसी एकीकरण के आनन्द को अभिव्यक्त करते हैं और इसी के कारण विश्व मानवीय दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण हो उठता है। जहाँ इस सामंजस्य की गहराई से अनुभूति नहीं होती, एक बेगानापन घिर आता है और घर की याद भी। मनुष्य स्वभाव से ही कलाकार है, अपने आसपास की चीज़ों के भौतिक विनियोग को वह निष्चेष्टतापूर्वक ग्रहण नहीं करता। उसके भावों और कल्पना का अनवरत रूपान्तरण चलता रहता है। दक्षता से जीने के लिए मनुष्य का तथ्यों और नियमों पर ध्यान रखना आवश्यक है। खुश रहने के लिए अपने कार्य-व्यापार के क्षेत्र के समस्त साधनों से उसका सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होना भी आवश्यक है। हमारी सर्जना सम्बन्धों का परिमार्जन है।

रहस्यात्मक तथ्य यह है कि यद्यपि हर व्यक्ति अलग-अलग अभिव्यक्ति ढूँढ़ता है, पर उसकी सफलता कभी वैयक्तिक नहीं होती। अपने सभी सर्जनात्मक कृत्यों

में मनुष्य उसी शाश्वत शक्ति की तालाश, अनूभूति और प्रतिनिधित्व करता है। सभ्यता तभी नष्ट होती है, जब व्यक्ति सार्वभौम की अभिव्यक्ति को बाधित कर दे।

(मानव धर्म)

स्वर्ग की झाँकी

मेरा विश्वास है कि स्वर्ग की झाँकी सूर्य की किरणों में मिल सकती है – धरती की हरीतिमा, मानव-मुख के सौन्दर्य और मानव-जीवन की सम्पदा में, उन वस्तुओं में भी जो प्रकटतः महत्त्वहीन ओर अनाकर्षक हैं। इस पृथ्वी पर हर जगह स्वर्ग की आत्मा जागृत है – अपना सन्देश सुनाती हुई। हमारी भीतरी कानों तक यह हमें बिना बताए ही पहुँच जाती है। हमारी जीवन-वीणा के तारों पर एक ऐसा सुर साधती है जो ससीम के पार के संगीत में हमारी रुचि जगाए, सिर्फ़ प्रार्थनाओं और आशाओं में नहीं, उन मन्दिरों में जो पाषाणों की अग्निशिखाएँ हैं, उन तस्वीरों में जहाँ स्वप्न अमर कर दिये गये हैं, उस नृत्य में जो गीत के स्थिर केन्द्र का आनन्दातिरेक-भरा मनन है।

(कलाकार का धर्म)